ॐ अर्हम्

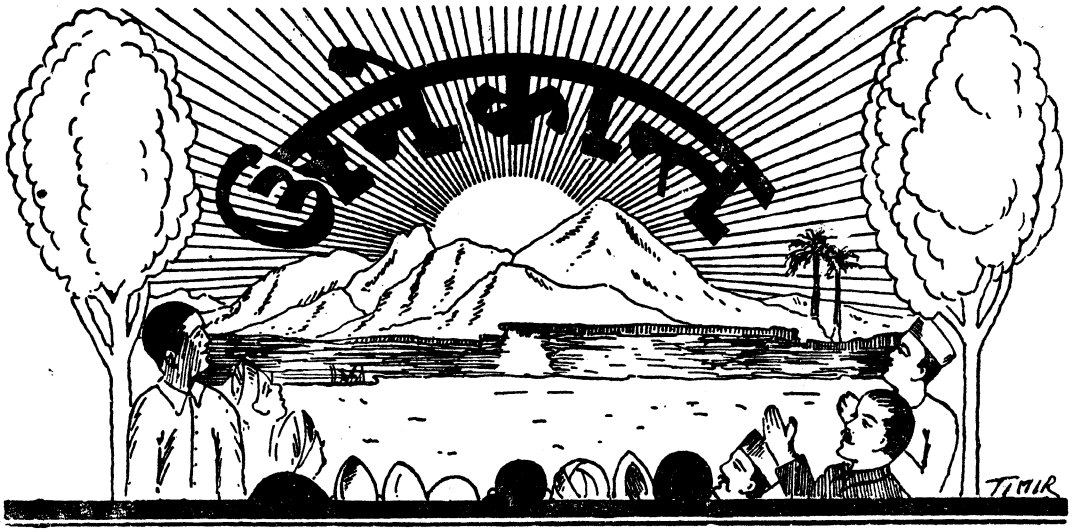

नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३ | सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर
प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० बो० नं० ४८, न्यूदेहली
चैत्र-पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९९७ | किरण ६

उमास्वाति-स्मरण

तत्त्वार्थसूत्र-कर्तारमुमास्वाति-मुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुण मन्दिरम् ॥
—नगरताल्लुक शिलालेख नं०४६

तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उन उमास्वाति मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ—उनके श्रीचरणोंमें नतमस्तक होता हूँ—जो गुणोंके मन्दिर थे और क़रीब-क़रीब श्रुतकेवली थे।

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्थ्यं भवति प्रजानाम् ॥
—श्रवणबेलगोल शिलालेख नं०१०५

श्रीमान् उमास्वाति वे मुनीन्द्र हैं जिन्होंने उस तत्त्वार्थसूत्रको प्रकट किया है जो कि मुक्तिमार्ग पर चलने को उद्यमी प्रजाजनों के लिये मूल्यवान पाथेय (कलेवा) के समान है—मोक्षमार्ग पर चलनेके लिये कमर कसे हुओं की आवश्यकताको पूरा करता हुआ उन्हें चलनेमें समर्थ बनाने वाला है।

अभू दुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।
सूत्रीकृतं येनजिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृध्रपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृध्रपिञ्छं ॥
—श्रवणबेलगोल शिलालेख नं० १०८

उन (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) के पवित्र वंशमें वे उमास्वाति मुनि हुए हैं जो संपूर्ण पदार्थोंके जानने वाले थे, मुनिपुंगव थे और जिन्होंने जिनदेव-प्रणीत आगमके संपूर्ण अर्थसमूहको सूत्ररूपमें रचना की है। वे प्राणियों की रक्षामें बड़े सावधान थे और इसके लिये उन्होंने एक बार पिंछी के रूपमें गृध्रके परोंको धारण किया था, उस वक्त से बुध-जन आपको 'गृध्रपिञ्छाचार्य' कहने लगे थे।

श्वेताम्बर कर्मसाहित्य
और
दिगम्बर 'पंचसंग्रह'

[ले०—पं० परमानन्द शास्त्री]

बंधशतक और पंचसंग्रह

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें 'कर्मप्रकृति' ग्रंथके कर्ता आचार्य शिवशर्म माने जाते हैं, और आपको पूर्वधर भी बताया जाता है। आप कर्म-साहित्यके विशेषज्ञ होते हुए अन्य सिद्धान्त आदि विषयोंमें भी अच्छी योग्यता रखते थे। आपका समय यद्यपि पूरी तौरसे निर्णीत नहीं है, फिर भी संभवतः विक्रमकी ५वीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। 'कर्मप्रकृति' ग्रन्थके अवलोकन करनेसे आपकी विद्वत्ताका यथेष्ट परिचय मिल जाता है। इस ग्रंथकी रचना सुसम्बद्ध है और प्रतिपाद्य विषयके अच्छे प्रतिपादनको लिये हुए है। इसमें जिस रूपसे बंध-उदय, उदीरणा, संक्रमण और उपशम आदिका वर्णन दिया है वैसा सूत्रबद्ध, संक्षिप्त कथन अन्य श्वेताम्बरीय कर्म ग्रन्थोंमें बहुत ही कम देखनेमें आता है। इन्हीं आचार्य-द्वारा संकलित एक 'शतक' नामका प्रकरण भी कहा जाता है* जो इस समय मेरे सामने उपस्थित है। इस ग्रंथमें बंध कथनकी प्रधानता होनेसे इसका नाम 'बंध-शतक' भी रूढ हो गया है। परन्तु इस शतक प्रकरणकी रचनाका सामञ्जस्य 'कर्मप्रकृति' के साहित्य आदिके साथ ठीक नहीं बैठता। जो गम्भीरता और सूत्र-कथन-शैली कर्मप्रकृतिमें है वह इस शतक प्रकरणमें उपलब्ध नहीं होती, और इससे इसके शिव-शर्मकर्तृक होनेमें संदेह होता है। ऐसा मालूम होता है कि यह 'शतक' प्रकरण किसी अन्य के द्वारा ही संग्रह किया गया है। इसके शुरुमें मंगलाचरण और ग्रंथप्रतिज्ञाकी जो गाथा पाई जाती है वह इस प्रकार है—

अरहन्ते भगवन्ते अणुत्तरपरक्कमे पणमिऊणं।
बंधसयगे निबद्धं संग्रह मिणमो पवक्खामि॥

इस गाथामें अणुत्तर पराक्रम वाले अरहंत भगवान् को नमस्कार करके बंधशतकमें निबद्ध इस संग्रहको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है, इससे इस ग्रंथके एक संग्रह ग्रंथ होने में तो कोई संदेह मालूम नहीं होता। परन्तु

---

* आचार्य मलधारी हेमचन्द्र जो इस शतक प्रकरणके टीकाकार हैं उन्होंने इस ग्रंथ की गाथासंख्या १०० बतलाई है जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे स्पष्ट है -"श्री शिवशर्म सूरिभिः संक्षिप्ततरं सुखाववोधं च गाथाशतपरिमाणनिष्पन्नं यथार्थनामकं शतकाख्यं प्रकरणमभ्यधायीति"। जब कि इस प्रकरणकी गाथा-संख्या मंगलाचरणकी गाथा सहित १०८ होती हैं। यदि मंगलाचरणकी गाथाको मूलग्रंथकी न मानी जावे तो भी गाथाओंकी संख्या १०७ होती हैं जिसका 'गाथाशत परिमाणनिष्पन्नं' वाले वाक्यके साथ विरोध होता है।

प्रश्न यह है कि वह संग्रह किसका किया हुआ है और कहांसे किया गया है। सटीक प्रतिमें उक्त गाथा पर कोई नम्बर नहीं दिया और न चूर्णीकारने इसकी व्याख्या ही की है। इसीलिये मलधारी हेमचन्द्रने इसकी टीका नहीं की और लिखा है कि 'यह गाथा इस ग्रंथके शुरुमें देखी जाती है परन्तु उसकी व्याख्या पूर्व चूर्णीकारने नहीं की, इसलिये उक्त गाथा प्रक्षिप्त मालूम होती है और सुगम भी है', ऐसा लिखकर उसके दो-तीन पदोंकी साधारण व्याख्या दी है। इससे स्पष्ट है कि मलधारी हेमचंद्र भी इस गाथाको मूल ग्रंथकी माननेमें संदिग्ध थे। अस्तु, यदि इस गाथाको मूल ग्रंथकी मानना इष्ट नहीं है तो इस ग्रंथके शिवशर्म-कर्तृक होनेकी हालतमें मंगलाचरणकी कोई दूसरी गाथा होनी चाहिये। क्योंकि आचार्य शिवशर्मने अपनी 'कर्म-प्रकृति' में मंगलाचरण किया है*। यह नहीं हो सकता कि एक ही ग्रंथकार अपने एक ग्रंथमें तो मंगलगानपूर्वक ग्रंथ रचनेकी प्रतिज्ञा करे और दूसरेमें न मंगलगान करे और न ग्रंथ रचनेकी कोई प्रतिज्ञा ही करे। जब मंगलादिककी दूसरी कोई गाथा नहीं है तब या तो इस ग्रन्थ को शिवशर्मकृत न कहना चाहिये। और या यह मानना चाहिये कि उक्त गाथा इसी ग्रंथकी गाथा है और उसके कथनानुसार यह ग्रन्थ एक संग्रह ग्रंथ है। दोनों हालतों-में यह ग्रंथ शिवशर्मकृत नहीं ठहरता; क्योंकि यह ग्रंथ जैसा कि आगे प्रकट किया जायगा, अर्थशः नहीं किन्तु शब्दशः इतना अधिक संग्रहग्रंथ है कि इसे शिवशर्म-जैसे आचार्यकी कृति नहीं कहा जा सकता। उनके कर्म-प्रकृति ग्रंथकी पद्धति-कथनशैली और साहित्यके साथ इस का कोई मेल भी नहीं बैठता और इसलिये इसका संग्रह किसी दूसरे ही विद्वान्ने किया है। कहाँसे किया है, इसका कुछ दिग्दर्शन आगे कराया जाता है।

दि० जैन सम्प्रदायमें प्राकृत पंचसंग्रह नामका जो एक प्राचीन कर्मग्रंथ उपलब्ध है और जिसका संक्षिप्त परिचय अनेकान्तके इसी वर्षकी तीसरी किरण में 'अति प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' शीर्षकके नीचे कराया जा चुका है, उसके 'शतक' नामक चतुर्थ प्रकरण की, जिसमें १०० बातें ३०० गाथाओंमें वर्णित हैं, ९४गाथाएँ इस 'शतक' नामक प्रकरणमें प्रायः ज्योंकी त्यों अथवा कुछ थोड़ेसे पाठ-भेद या सामान्य शब्द-परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं। उनमें एक गाथा ऐसे परिवर्तनको भी लिये हुए है जिसमें थोड़ासा साधारण मान्यता भेद उपलब्ध होता है और जो सम्प्रदाय-विशेष की मान्यताका सूचक है।

प्राकृत पंचसंग्रहकी जो गाथाएँ उक्त 'शतक' अथवा 'बन्धशतक' में पाई जाती हैं उनमेंसे तीन गाथाएँ यहाँ नमूनेके तौर पर नीचे दी जाती हैं:—

चोद्दससरायचरिमे पंचणियट्टीणियट्टि एयारं।
सोलसमं दुण्णभायं संजमगुणपच्छिओ जयइ॥

—प्रा० पंचसं० ४, ४७०

चोद्दससरागचरिमे पंचमनियट्टिनियट्टि एक्कारं।
सोलसमं दुण्णभागा संजमगुणपत्थिओ जयइ॥

—बन्धशतक, ७४

आहारमप्पमत्तो पमत्तसुद्धो दु अरइ सोयाणं।
सोलस माणुस तिरिया सुर णिरया तमतमा तिण्णि॥

—प्रा० पंचसं०, ७, ४७६

आहारमप्पमत्तो पमत्तसुद्धो उ अरइ सोगाणं।
सोलस माणुसतिरिया सुरनारग तमतमा तिन्नि॥

—बन्धशतक, ७५

* **सिद्धं सिद्धत्थसुयं वंदियणिद्धो य सव्वकम्ममलं।**
कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदय संताणि वोच्छामि॥

—कर्मप्रकृति १

सम्माइट्ठी मिच्छो व अट्ठ परियत्तमज्झिमो जयइ ।
परियत्तमाण मज्झिम मिच्छाइट्ठी दु तेवीसे ॥
—प्रा० पंचस०, ४, ४८३

सम्माइट्ठी मिच्छो व अट्ठ परियत्त मज्झिमो जयइ ।
परियत्तमाण मज्झिम मिच्छदिट्ठी उ तेवीसं ॥
—बन्धशतक, ७६

इनके सिवाय, पंचसंग्रहकी गाथाएँ नं० ३, ४, ५, ६, २०, ५५, ५६, ६६, ७६, ७७, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०६, २१०, २१३, २१६, २२०, २२१, २२३, २२४, २, ४, २३०, २३१, २३६, २३७, ३०२, ३०३, ३०६, ३१८, ३२१, ३२२, ४२४, ४२६, ४२७, ४२८, ४२६, ४३०, ४३१, ४३५, ४३६, ४३७, ४४५, ४४६, ४४७, ४५१, ४५४, ४५५, ४६६, ४७०, ४७६, ४७६, ४८०, ४८३, ४८८, ४६५, ४६७, ४६६; ५००, ५०५, ५०६; ५११, ५१४, ५१६, ५१६, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, बंध शतकमें क्रमशः नं० १, २, ३, ५, ६, ६, १०, ११, १४, १५, १६, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, ३०, ३१, ३२, ३४, ३५, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५; ४७, ४६, ५०, ५१, ५५, ५६, ५७, ५८, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६८, ६६, ७०, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७६, ८२, ८७, ८८, ६०, ६१; ६५, ६७, ६६, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, पर पाई जाती हैं।

इनके अतिरिक्त जिन गाथाओंमें कुछ उल्लेखनीय पाठभेद उपलब्ध है उनमेंसे नमूनेके तौरपर दो गाथाएं नीचे दी जाती हैं:—

आवरणदेसघायंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।
चउविहभावपरिणया तिभावसेसा सयं तु सत्तहियं ॥
—प्रा० पंचसंग्रह ४८६

आवरणदेसघायंतरायसंजलणपुरिससत्तरसं ।
चउविहभावपरिणया तिविह परिणया भेव सेसा ॥
—बन्धशतक, ८३

तिरिणरमिच्छेयारह सुर मिच्छो तिण्णि जयइ पयडीओ ।
उज्जोवं तमतमगा सुरणेरइया हवे तिण्णि ॥
—प्रा० पंचसंग्रह ४६६

पंचसुर सम्महिट्ठी सुरमिच्छोतिन्नि जयइ पयडीओ ।
उज्जोयं तमतमगा सुरणेरइया भवे तिण्हं ॥
—बंधशतक, ७३

इसी प्रकार पंचसंग्रहकी गाथाएँ नं० ४०, ५४, २१८, २२२; २२५, ३०४, ३१३, ४२३, ४६३, ४८६, ४८७, ४६८, ५०२, ५०७, ५१३, भी थोड़ेसे पाठ भेदके साथ बंधशतकमें क्रमशः नं० ७, ८, २६, ३३, ३६, ४६, ४८, ५४, ७१, ८०, ८१, ८६, ६३, ६६, ६८, पर उपलब्ध होती हैं।

नीचे वह गाथा भी दी जाती है जिसमें मान्यता-भेदको लेकर कुछ साधारणसा परिवर्तन किया गया जान पड़ता है:—

आउक्कस्स पदेसं छच्चं मोहस्स णव दु ठाणाणि ।
सेसाणि तणु कसाओ बधइ उक्कस्स जोगेण ॥
—प्रा० पंचसंग्रह, ५०५

आउक्कस्स पएसस्स पंच मोहस्स सत्त ‡ ठाणाणि ।
सेसाणि तणुकसाओ बंधइ उक्कोसए जोगे ॥
—बंधशतक, ६४

‡ बंध शतककी इस ६४ नं० की गाथाकी टीका करते हुए आचार्य मलधारी हेमचंद्रने लिखा है—'अन्ये तु सास्वादनमिश्रावपि संगृह्य' "मोहस्स णवदु ठाणाणि" त्ति पठन्ति'। इससे स्पष्ट है कि उक्त संस्कृत टीकाकारके सामने मोहके नवस्थानोंका निर्देश करनेवाला प्राकृत पंचसंग्रहका अथवा अन्य कोई दिगम्बरीय पाठ अवश्य रहा है इसी कारण टीकाकारने उक्त सूचना दी है।

कर्मस्तव और पंचसंग्रह

श्वेताम्बरीय सम्प्रदायमें 'कर्मस्तव' नामका एक छोटा सा कर्मविषयक प्रकरण और भी है, जिसके कर्त्ता तथा रचनाकालका कोई पता नहीं और जिसे द्वितीय प्राचीन कर्मग्रन्थके नामसे कहा जाता है। परन्तु इस प्रकरणका यथार्थ नाम 'बन्धोदय-सत्व-युक्त-स्तव' जान पड़ता है। जैसा कि उसके **'बन्धुदयसंतजुत्तंवोच्छामि थयं निसामेह'** पदसे मालूम होता है *। इस प्रकरण में बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तारूप प्रकृतियों का सामान्य कथन किया गया है। इसकी कुल गाथासंख्या ५५ है ‡। परन्तु उक्त प्रकरणमें बंध और उदयादिके कोई लक्षण या स्वरूप निर्देश नहीं किये गये जिनके निर्देशकी वहाँ पर निहायत ज़रूरत थी। और इस लिये उसमें बंध उदयादिके स्वरूपादिक का न होना बहुत खटकता है। इतना ही नहीं, किन्तु ग्रंथकी अपूर्णता और अव्यवस्थाको भी सूचित करता है; क्योंकि उसमें मंगलाचरणके बाद एकदम बिना किसी पूर्व सम्बन्धके दूसरी गाथा में ही बंधसे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों की संख्या गुणस्थानक्रमसे बतला दी है। इसके सिवाय, उसकी एक बात और भी खटकती है और वह यह कि बन्ध-व्युच्छिन्न, उदय-व्युच्छिन्न और उदीरणारूप प्रकृतियोंकी संख्या गिनानेके बाद ६ वीं गाथामें मूल कर्मप्रकृतियोंके आठ नाम दिये हैं और १० वीं गाथामें उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या बताई है, जिन सबका वहाँ उस प्रकरणके साथ कोई सम्बन्ध मालूम नहीं होता, ऐसी स्थितिमें उक्त प्रकरण किसी दूसरे ही ग्रन्थ परसे संकलित किया गया है और उसका संकलन-कर्ता मोटी मोटी त्रुटियोंके कारण कोई विशेष बुद्धिमान मालूम नहीं होता। वह दूसरा ग्रन्थ जहाँ तक मैंने अनुसंधान किया है, दिगम्बर जैन समाजका 'प्राकृत पंचसंग्रह' जान पड़ता है। उसमें 'बन्धोदय-सत्व-युक्त-स्तव' नामका ही एक तृतीय प्रकरण है, जिसकी कुल गाथा संख्या ७८ है। इस प्रकरणमें मंगलाचरणके बाद बंध, उदय, उदीरणा और सत्ताका सामान्य स्वरूप दिखाकर तीन चार गाथाओं-द्वारा उनके विषयका कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया है। पश्चात् उसमें यथाक्रमसे बन्धादिसे व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों का खुलासा कथन किया है और साथमें अंकसंदृष्टि भी होनेसे वह विशेष सुगम तथा उपयोगी हो गया है। और इस तरहसे पंचसंग्रह का वह प्रकरण सुसम्बद्ध और नामकरणके अनुसार अपने विषयका स्पष्ट विवेचक है। जो बातें श्वेताम्बरीय 'कर्मस्तव' को देखनेसे खटकती हैं और असंगत जान पड़ती हैं वे सब यहाँ यथास्थान होनेसे सुसंगत और सुसम्बद्ध जान पड़ती हैं। पंचसंग्रहके इस प्रकरणकी ५३ गाथाएं साधारणसे कुछ शब्दपरिवर्तनके साथ प्रायः ज्योंकी त्यों उक्त श्वे० 'कर्मस्तव' में पाई जाती हैं। और पंचसंग्रहके 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' नामक अधिकारकी दो गाथाएं नं० २ और ४ हैं, जो मूल प्रकृतियोंके नाम तथा उत्तर प्रकृतियोंकी संख्याकी निर्देशक हैं, वे

---

* प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने भी द्वितीय कर्मग्रन्थकी प्रस्तावनामें 'ग्रन्थ रचनाका आधार' शीर्षकके नीचे 'कर्मस्तव' नामके द्वितीय प्राचीन कर्म ग्रन्थका असली नाम 'बन्धोदय-सत्व-युक्त स्तव' ही लिखा है। देखो, कर्मस्तव नामक द्वितीय ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ० ४

‡ इसकी मुद्रित मूल प्रतिमें गुणस्थानोंके नाम वाली दो गाथाओंको शामिल करके गाथा संख्या ५७ दी है। परन्तु टीकाकारने उनपर कोई टीका नहीं लिखी, इस कारण उन्हें प्रक्षिप्त बतलाया जाता है।

कर्मस्तवमें ६, १० नं० पर पाई जाती हैं। इस तरहसे उक्त कर्मस्तव ग्रन्थ में ५५ गाथाओंका जो संकलन हुआ है वह सब इसी पचसंग्रह परसे हुआ जान पड़ता है। पाठकोंकी जानकारीके लिये तुलनाके तौर पर यहां दो गाथाएं दी जाती हैं:—

मिच्छणउंसयवेयं णिरयाऊ तहय चेव णिरयदुअं।
इगि वियलिंदियजाई हुँडमसंपत्तमायावं ॥
थावर सुहुमंच तहा साहारणयं तहेव अपज्जत्तं।
ए ए सोलह पयडी मिच्छम्मि अ बंध-वुच्छेओ ॥

—प्रा० पंचसं० ३, १५, १६

मिच्छनपुंसगवेयं नरयाउं तहयचेव नरयदुगं।
इग वियलिंदिय जाई हुँडमसंपत्तमायावं ॥
थावरसुहुमं च तहा साहारणयं तहेव अपज्जत्तं।
एया सोलह पयडी मिच्छंमि य बंधबोच्छेओ ॥

—कर्मस्तव, ११, १२

इसी तरहसे प्राकृत पंचसंग्रहकी गाथाएं नं० १, ११, १२, २६, ५०, ५१, ५२, ५३, २, ४, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५५, ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, कर्मस्तवमें क्रमशः नं० १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १६, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, पर ज्योंकी त्यों रूपसे उपलब्ध होती हैं।

सप्ततिका और पंचसंग्रह

श्वेताम्बरीय कर्म ग्रंथोंमें 'सप्ततिका' नामका भी एक प्रकरण ग्रन्थ हैं। जिसे प्राचीन षष्ठ कर्मग्रन्थ भी कहते हैं। इसकी कुल गाथा संख्या ७५ है। इस प्रकरणके संकलन-कर्ता आचार्य चन्द्रर्षि माने जाते हैं। कहा जाता है कि आपने स्वयं इस पर २३०० श्लोक प्रमाण एक टीका भी लिखी है। परन्तु वह अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आई। आचार्य चन्द्रर्षि कर्मसाहित्यके अच्छे विद्वान थे। 'पंचसंग्रह' नामकी आपकी कृतिका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें विशेष आदर है। यह पचसंग्रह उक्त दिगम्बर पंचसंग्रहसे भिन्न है। इस पंचसंग्रहमें शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म, और कर्मप्रकृतिलक्षण नामक ग्रंथोंका; अथवा योग, उपयोग-मार्गणा, बन्धक, बंधव्य, बन्धहेतु और बन्धविधिरूप प्रकरणोंका संग्रह कियागया है*। जिससे इसका पंचसंग्रह नाम अधिक सार्थक जान पड़ता है। इस ग्रन्थकी कुल गाथा संख्या ६६१ है। इसपर ग्रंथकर्ताने खुद ६००० श्लोक प्रमाण एक टीका लिखी है जो मूलग्रंथके साथ मुद्रित हो चुकी है। यद्यपि इस ग्रंथमें शिवशर्मकी प्रकृतिका विशेष अनुकरण है परन्तु वह सब अपने ही शब्दोंमें लिखा गया है। कहीं कहीं पर कुछ कथन दिगम्बर ग्रंथोंसे भी लिया गया मालूम होता है, परन्तु वह बहुत ही अल्प जान पड़ता है। आचार्य चन्द्रर्षिने पंचसंग्रहमें आदि मंगल करके ग्रंथके कथन करनेकी प्रतिज्ञाकी है ‡ और अन्त की निम्न गाथा में

* **पंचानां शतक सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृतिलक्षणांनांग्रन्थानां, अथवा पंचाना मर्थानामर्था धिकाराणां योगोपविषय मार्गणा-बंधक-बंधव्य-बन्धहेतु-बन्धविधिलक्षणानां संग्रहः पंचसंग्रहः।**
—पंचसं० घ० मलयगिरीया० १

‡ **नमिऊण जिणं वीरं सम्मं दुट्ठट्ठकम्मनिट्ठवगं।**
वोच्छामि पंचसंग्गहमेय महत्थं जहत्थंच ॥ १ ॥
—पंचसंग्रहे, चन्द्रर्षिः।

अपने उक्त प्रकरणकी समाप्ति के साथ अपना नाम भी व्यक्त किया है।

सुयदेविपसायाओ पगरणमेयं समासओ भणियं।
समयाओ चंदरिसिणा समईविभवानुसारेण ॥

इस गाथामें बताया है कि आगम और श्रुतदेवीकी प्रसन्नतासे यह प्रकरण मुझ चंद्रर्षिने अपनी बुद्धिविभव के अनुसार संक्षेपसे कहा है।

इसके सिवाय, पंचसंग्रहकी अपनी स्वोपज्ञवृत्तिमें भी चंद्रर्षिने मंगलाचरण किया है और टीकाके अंतमें प्रशस्ति भी दी है जिसमें अपनेको पार्श्वर्षिका शिष्य बतलाया है। परंतु 'सप्ततिका' नामके इस प्रकरणमें कोई मंगलाचरण नहीं किया है और न ग्रंथ-के अन्तमें संकलन कर्ताने अपना नाम ही व्यक्तकिया है। अतः चन्द्रर्षिही इस प्रकरणके संकलनकर्ता हैं या कोई अन्य, यह बात जरूर विचारणीय है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक ही ग्रंथकार अपने एक ग्रंथमें और उसकी टीका तकमें तो मंगलाचरण दें और ग्रंथके अन्तमें अपना नाम भी प्रकट करें, परंतु दूसरे ग्रंथमें आदि अंतकी उक्त दोनों बातोंमें से एक भी न करें। इसके अतिरिक्त चंद्रर्षिने अपने पंचसंग्रहमें 'सप्ततिका' नामका एक प्रकरण भी लिखा है, जिसमें विस्तारसे इन्हीं सब बातोंका कथन किया गया है, जो इस सप्ततिका प्रकरणमें तथा दिगम्बरीय कर्मग्रंथोंमें पाई जाती हैं। परंतु वह सब कथन अपने अनुभवादिके साथ अपने शब्दोंमें निरूपित है, जिससे उक्त प्रकरण बहुत अच्छा है। उस प्रकरणसे इस प्रकरणमें कोई विशेषता मालूम नहीं होती, जिससे उनके द्वारा उसीके फिरसे रचे जानेकी कल्पना की जा सके। इस प्रकरणमें पंचसंग्रह जैसा स्पष्ट तथा उससे अपूर्व कुछ भी कथन नहीं है। इसीसे यह प्रकरण आचार्य चंद्रर्षिका संकलन किया हुआ मालूम नहीं होता, किन्तु किसी दूसरे ही के द्वारा इधर उधरसे संग्रह किया हुआ जान पड़ता है।

दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रहके सत्तर भंगवाले अंतिम अधिकारकी ५१ गाथाएं उक्त प्रकरणमें प्रायः ज्योंकी त्यों अथवा कुछ थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ उपलब्ध होती हैं। उसमेंसे दो गाथाएं यहां नमूनेके तौर पर दी जाती हैं:—

कदिबंधंतो वेददि कइया कदि पयडिठाण कम्मंसा।†
मूलुत्तरपयडीसु य भंगवियप्पा दु बोहव्वा ॥

—प्रा० पंचसं०, ५२८

कइ बंधंतो वेयइ कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि।
मूलुत्तरपगईणं भंगवियप्पा उ बोहव्वा ॥

—सप्ततिका ७२

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा।
एयविहे तिवियप्पो एयवियप्पो अबंधम्मि ॥

प्रा० पंचसंग्रह, ५२६

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥

—सप्ततिका ३

इनके अतिरिक्त पंचसंग्रहकी गाथाएं नं० ५२७, ५३०, ५३१, ५३३, ५४७, ५५५, ५५६, ५५१, ५६२, ५७३, ५७४, ७४२, ७७४, ७७५, ७७६, ७८५, ७८८, ८२६, ८३०, ६११, ६४६, ६८२, ६८३, ६८४, ६८६, ६८७, ६६०, ६६१, ६६५, १००३, १०१४, १०१५, १०१६, १०१७, थोड़ेसे साधारण शब्द परिवर्तनके साथ सप्ततिका(षष्ठकर्मग्रंथ) में क्रमशः नं० १, ४, ५, ७, ११, १३, १४, १५, १६, २४, २५, ३२, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४६, ४७,

† अत्र अंश इतिशब्देन सत्ता गृह्यते।

५०, ५४, ५५, ५६, ५७, ५६, ६०, ६१, ६२, ६७, ७३, ७४ ७५ पर पाई जाती हैं।

इनके सिवाय, जिन गाथाओंमें थोड़ा या बहुत पाठ-भेद अथवा मान्यताभेद पाया जाता है उनमेंसे उदाहरण के तौरपर यहाँ तीन गाथाएँ दी जाती हैं।

एक्कं च दोव चत्तारि दो एयाधिया दसुक्कस्सं।
ओघेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणाणि णव होंति॥

—प्रा० पंचसं०, ५५२

एक्कं च दोव चउरो एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा।
ओहेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणा नव हवंति॥

—सप्ततिः १२

मणुयगई पंचिंदिय तस बायरणामसुहयमादिज्जं।
पज्जत्तं जसकित्ती तित्थयरं णाम णव होंति॥

—प्रा० पंचसं०, ६८५

मणुयगइ जाइतस बायरं च पज्जत्त सुभगमाइज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति एया (उच्चं)॥

—सप्ततिका, ५८

बारस पणट्ठाइं उदय वियप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीदिं सत्तत्तरि पयबंधसदेहिं विण्णेया॥

—प्रा० पंचसं०, ८३१

बारसपणसट्ठसया उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीई सत्तुत्तरि पयविंद सएहिं विन्नेया॥

—सप्ततिका ४८

इसी तरह की प्राकृत पंचसंग्रह की गाथाएं नं० ५६८, ७७०, ७७१, ८२८, ६१७, ६१८, ६३७, ६६२, ६६३, ६६६, १०११, १०१४ हैं, जो सप्ततिकामें क्रमशः नं० २०, ३३, ४३, ४५, ५१, ५२, ५३, ६३, ६६, ७२, पर उक्त प्रकारके पाठ भेदादिके साथ उपलब्ध होती हैं।

उपसंहार

इस सब तुलना परसे पाठक सहजमें ही जान सकेंगे कि प्राकृत पंचसंग्रह की गाथाओं का उक्त तीनों श्वेताम्बरीय कर्म ग्रन्थोंमें कितना अधिक उपयोग हुआ है। और उपयोगिता की दृष्टिसे यह ग्रंथ कितने अधिक महत्वका है। उक्त प्रकरणके संकलित करनेमें पंचसंग्रहकी जिन गाथाओंका उपयोग हुआ है उनमेंसे अधिकाँश गाथाओंका उपयोग प्राचीन दिगम्बर कर्म साहित्यमें बराबर होता रहा है और आचार्य वीरसेनकी धवला टीकामें भी हुआ है। इससे उन गाथाओंका अधिकतर दिगम्बर साहित्यसे ही सम्बंध रहा जान पड़ता है श्वेताम्बरीय कर्म प्रकृति ग्रंथमें इस तरहकी प्रायः दो-तीन गाथाएँ ही उपलब्ध होती हैं †। और चंदर्षिके पंचसंग्रहमें ऐसी गाथाएं ८-१०के करीब ही पाई जाती है*। मालूम होता है कि चन्द्रर्षिके सामने दिगम्बरीय प्रा० पंचसंग्रह अथवा और इसी तरहका अन्य दि० साहित्य अवश्य रहा है।

वीर सेवामंदिर, सरसावा ता० १५-४ १६४०

† उदाहरणके लिये उसकी एकगाथा नीचे दी जाती है—

घाईणं छउमत्था उदीरगा रागिणो य मोहस्स।
तइयाऊण पमत्ता जोगंता उत्ति दोण्हं च॥

—कर्म प्र०, ४, ४

यह गाथा दिगम्बरीय पंचसंग्रहके चौथे प्रकरणमें २१४ नं० पर और गोम्मट्टसार-कर्मकाण्डमें ४५५ नं० पर पाई जाती है।

* उदाहरण केलिए दो गाथाएं नीचे दीजाती हैं—

अट्ठग सत्तग छक्कग चउ तिग दुग एगाहिया वीसा।
तेरस बारेक्कारस संते पंचाइ जा एक्कं॥

—पंचसं० ३५, पृ० २४४

यह गाथा दि० पंचसंग्रहमें ५५५ नं० पर और गो० कर्मकाण्डमें ५०८ नं० पर उपलब्ध होती हैं।

तेवीसा पणुसा छव्वीसा अट्ठावीस दुगुणतीसा।
तीसेग तीस एगो बंधट्ठाणाइ नामेट्ठ॥

—पंचसं०, ५५, पृ० २५७

यह गाथा दि० पंचसंग्रहमें ५७४ नं० पर पाई जाती है।

धर्माचरणमें सुधार

[ले०—बा० सूरजभानुजी वकील]

हवा, गर्द गुबार आदिके कारण हर वक्त ही मकानों में कूड़ा कचरा इकट्ठा होता रहता है, जिससे दिनमें दो बार नहीं तो एक बार तो ज़रूर ही मकानों-को साफ़ करना पड़ता है। मकानमें रक्खे हुए सामान पर भी गर्दा जम जाता है, इस कारण उनको भी झाड़ना पोंछना पड़ता है। हम जो शुद्ध वायु सांसके द्वारा ग्रहण करते हैं वह भी अन्दर जाकर दूषित हो जाती है, इस ही कारण वह गंदी वायु सांसके ही द्वारा सदा बाहर निकालनी पड़ती है, पसीना भी हमारे शरीरकी शुद्धि करता रहता है। मल मूत्र-त्याग करनेके द्वारा तो रोज़ ही हमको अपने शरीरकी शुद्धि करनी होती है। किसी कारणसे यदि किसी दिन मल मूत्रका त्याग न हो तो चिंता हो जाती है और औषधि लेनी पड़ती है। अनेक निमित्त कारणोंसे अन्य भी अनेक प्रकारके विकार शरीरमें हो जाते हैं, जिनके सुधारके वास्ते वैद्य हकीमसे सलाह लेनी पड़ती है, गेहूँ चावल आदि अनाज में जीव पड़ जाते हैं, इस कारण नित्य उनको भी काम में लानेसे पहले बीनना पड़ता है। पानीको भी कुछ समयके बाद फिर छाननेकी ज़रूरत पड़ती है। ग़रज़ वाह्य निमित्त कारणोंसे सब ही वस्तुओंमें विकार आता रहता है, इस ही कारण सब ही का सुधार भी नित्य ही करना पड़ता है। सुधार किये बिना किसी तरह भी गुज़ारा नहीं चल सकता है।

हमारी धार्मिक मान्यताओं क्रियाओं और साधनों में भी वाह्य निमित्त कारणोंसे अन्य मतियोंकी संगति उनके सिद्धान्तोंके पढ़ने सुनने और उनकी धर्म क्रिया तथा साधनोंके देखने सुननेसे—और हमारी भी अनेक प्रकारकी कषायों तथा ज्ञानकी मंदतासे अनेक प्रकारके विकार पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है। इस कारण धार्मिक मान्यताओं और क्रियाओंकी शुद्धि होती रहना भी इतना ही ज़रूरी है जितना कि झाड़ पोंछकर नित्य मकानकी शुद्धि करते रहना, स्नान करनेके द्वारा शरीर की शुद्धि करते रहना और धोने मांजनेके द्वारा कपड़ों बर्तनोंकी शुद्धि करते रहना ज़रूरी है। इस शुद्धिका मार्ग हमको धर्म शास्त्रोंके वचनोंसे बहुत ही आसानी से मिल सकता है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी मान्यताओं, धर्म-क्रियाओं और साधनोंको शास्त्रोंके वचनोंसे मिलाते रहें और जहां भी ज़रा विकार देखें, तुरन्त उसका सुधार करते रहें। नित्य शास्त्र स्वाध्याय करना तो इसी वास्ते प्रत्येक श्रावकके लिये ज़रूरी ठहराया गया है कि वह नित्य ही धर्मके सच्चे स्वरूप को याद कर करके अपने धर्म साधनमें किसी भी प्रकारका कोई विकार न आने दे और यदि कोई विकार आजाय तो उसका सुधार करता रहे।

विकारोंका होना और उनका सुधार करते रहना जैनधर्ममें इतना जरूरी ठहराया है कि मुनि महाराजों-के लिये भी नित्य शास्त्र स्वाध्याय करते रहना ज़रूरी बताया है, जिससे धर्मका सत्य स्वरूप नित्य ही उनके सामने आता रहे और वे विचलित न होने पावें। फिर उनको नित्य ही अपने भावों-परिणामों और कृत्योंकी

आलोचना प्रतिक्रमणादि करते रहना भी ज़रूरी ठहराया है जिससे हर रोज़की अपनी ग़लती उनको मालूम होती रहे और उसका सुधार भी प्रतिदिन होता रहे। अगर कोई दोष विशेष प्रकारका होगया है तो उस दोषको आचार्य महाराजके सामने साफ़ २ प्रकट कर दिया जाय और जो कुछ वे दंड दें उसको अपने सुधारके अर्थ निस्संकोच भावसे स्वीकार किया जाय। यदि मुनि के अन्दर कोई बहुत ही ज़्यादा विकार आगया तो आचार्य महाराजको उचित है कि उसके सुधारके वास्ते उसको मुनि पदसे ही अलग कर देवें और फिर आहिस्ता २ उसका सुधार कर दोबारा मुनि दीक्षा देवें। इस प्रकार जब मुनियों तकमें विकार आजानेकी सम्भावना और उनका सुधार होना ज़रूरी है तब श्रावकोंमें तो विकार उत्पन्न होते रहनेकी बहुत ही ज़्यादाःसम्भावना है, उनमें भी पहली प्रतिमा धारी अव्रती श्रावकों में तो विषय कषायोंकी अधिकताके कारण विकारोंके पैदा होते रहनेकी और भी ज़्यादा सम्भावना और उनका सुधार होते रहनेकी और भी ज़्यादा ज़रूरत है।

जैनधर्मके सिवाय अन्य मतोंमें तो, जिनमें एक ईश्वर वा अनेक देवी देवताओंके द्वारा ही जीवोंको सुख-दुख मिलना माना जाता है, उस एक ईश्वर वा देवी देवताओंको प्रसन्न करते रहना ही एक मात्र धर्म साधन ठहराया गया है—उन्हींके प्रसन्न होनेसे पूर्वकृत पाप क्षमा हो जाते हैं और बिना पुण्य कर्म किये ही सब सुख मिल जाते हैं। उनको प्रसन्न करनेके वास्ते भी उन मतोंमें भेंट चढ़ाने, स्तुति गाने, मुखसे नाम जपते रहने या दूसरोंसे जाप करा देने,गंगा आदि नदियों में नहाने आदिकी ऐसी बाह्य क्रियायें निश्चित् हैं, जिनमें अन्तरंगकी शुद्धिकी प्रायः कुछ भी ज़रूरत नहीं पड़ती है, बाह्य विधियोंके पूरा होनेसे ही देवता प्रसन्न हो जाते हैं और सब संकट दूर कर इच्छित मनोकामना पूरी करनेको तय्यार हो जाते हैं, ऐसी अन्य मत वालों की मान्यता है। इस कारण उनकी सब धर्म क्रियायें प्रायः बाह्य साधन रूप ही होती हैं।

परन्तु जैनधर्मका सिद्धान्त इससे बिल्कुल ही विलक्षण है। जैनधर्ममें तो किसी भी ईश्वर परमात्मा वा देवी देवताको प्रसन्न करना नहीं है, किन्तु अपनी ही आत्माको विषय कषायों और राग द्वेषके मैलसे शुद्ध करना है। जिस प्रकार बीमारको स्वास्थ्य प्राप्त करनेके वास्ते औषध आदिके द्वारा अपने शरीरमें से दोषोंका निकाल देना ज़रूरी है, शरीरके जितने जितने दोष शांत होते रहते हैं उतना ही उतना उसको स्वास्थ्य लाभ और सुख शांतिकी प्राप्ति होती रहती है। उसी प्रकार धर्म-सेवनके द्वारा राग द्वेष और विषय-कषायोंमें जितनी कमी होती है उतनी ही उतनी उसकी आत्माकी शुद्धि होती जाती है और सुख शांति मिलती जाती है।अतः जैनधर्ममें वे ही साधन धर्म साधन माने जाते हैं और वही क्रियायें धर्म क्रियायें समझी जाती हैं, जिनसे राग द्वेष और विषय कषायों में मंदता आती हो और होते होते उनका सर्वथा ही नाश हो जाता हो। दूसरे शब्दोंमें यूँ कहिये कि जैनधर्ममें अन्य मतोंकी तरह बाह्य क्रियायें करना ही धर्म नहीं है किन्तु इसके विपरीत जैनधर्मका असली धर्म साधन एकमात्र राग द्वेष और विषय कषायोंसे अपनी आत्माको शुद्ध करना ही है। बाह्य क्रियायें तो इस असली धर्म-साधनकी सहायक ही हो सकती हैं। राग-द्वेष और विषय कषायोंकी मंदताके बिना कोई भी क्रिया धर्म क्रिया नहीं मानी जाती है। परन्तु मनुष्य के लिये बाह्य क्रियओंका करना आसान होता है और अंतरंगको शुद्ध करना बहुत ही कठिन। मनुष्य धर्मके

नामसे सर्व प्रकारके शारीरिक कष्ट उठा सकता है और धन भी खर्च कर सकता है, क्योंकि ऐसा उसको अपने सांसारिक कार्योंकी सिद्धिके वास्ते सदा ही करना पड़ता है। सांसारिक मनुष्य कष्ट उठाने और धन खर्च करने का तो पूर्ण रूपसे अभ्यासी ही होता है। संसारी मनुष्य तो अपनी आजीविका आदिके वास्ते भी फौजमें भरती हो कर और युद्धमें जाकर अपनी जान तककी भी परवाह नहीं करता है। माता अपने बच्चेकी पालनाके वास्ते सब कुछ तपस्या करनेको तय्यार होती है। व्याह शादी आदि अनेक गृहस्थ कार्योंमें संसारी मनुष्य क़रज़ लेकर भी इतना ख़र्च कर देते हैं कि उमर भर भी उसे नहीं चुका सकते हैं। ग़रज़ कष्ट उठाना और पैसा खर्च करना तो मनुष्यके लिये आसान है परन्तु अन्तरंगसे राग द्वेषको घटाना और विषय कषायोंको कम करना बहुत ही मुश्किल है। इस कारण जैनियोंके लिये असली धर्म-साधनसे फिसलना—अन्तरंग शुद्धिको छोड़कर वाह्य क्रियाओंको ही सब कुछ समझ-लेना—बहुत ज्यादा सम्भव है। विशेषकर जब वे अपने पड़ौसी अन्यमतियोंको सिर्फ़ वाह्य क्रियाओं द्वारा ही धर्म साधन करता देखते हैं—यहां तक कि दूसरे २ पुरुषोंके द्वारा पूजन और जाप आदि करानेसे भी उनका धर्म साधन हो जाता है, तो इस सहज रीतिका असर जैनियों पर भी पड़ता है और वे भी अपनी अन्तरंग शुद्धिको छोड़कर केवल वाह्यक्रियायें ही करने लगजाते हैं। इस प्रकारसे अनेक भारी विकार जैनियोंमें आते रहते हैं जिनका सुधार होते रहना अत्यन्त आवश्क है। नहीं तो ऐसे विकारोंके द्वारा जैनी अन्यमतके सिद्धान्तोंको मानते हुए भी और अन्यमतके अनुसार ही धर्म साधन करते हुए भी इन अपनी सब मान्यताओं और साधनोंको ही जैनधर्म बतलाते हुए जैनधर्मको भी बदनाम करते हैं और बड़ी भारी क्षति पहुँचाते हैं।

वाह्य क्रियायें जब उस उद्देश्यकी सिद्धिके वास्तेकी जाती हैं जिनकी वे साधन हैं। तब तो वे क्रियायें बहुत ही कार्यकारी और जरूरी होती हैं! लेकिन अगर असली ग़रज़को छोड़कर सिर्फ वाह्यक्रियायें ही की जावें तो वे एक प्रकारकी मूर्खता और नादानी ही होती है। जैसा कि आगके बिना भोजन नहीं पक सकता है। भोजन पकानेके वास्ते आगकी सहायताकी अत्यन्त जरूरत है। परन्तु यदि कोई आटा दाल आदि भोजनकी सामग्रीके बिना ही नित्य चूल्हेमें आग जलाया करै और तवा गर्म किया करै तो क्या वह मूर्ख नहीं समझा जायगा? इसी प्रकार यदि कोई पढ़ना तो न चाहे एक अक्षर भी, किन्तु पुस्तकें लेकर अध्यापकके पास अवश्य जाया करे और उसकी सेवा भी सब तरहसे किया फिर तो क्या उसकी यह सब कोशिश व्यर्थ नहीं है? इस ही प्रकार यदि कोई बीमार वैद्य हकीम तो बढ़िया २ बुलाया करे और उनकी बताई औषधि भी तय्यार कराया करे, परन्तु दवाका खाना तो दूर रहा, उसको चाखकर देखनेका भी साहस न किया करे, उल्टा कुपथ्य सेवन ही करता रहा करे तो क्या उसको कुछ स्वास्थ्य लाभ हो सकेगा? इसी ही प्रकार यदि कोई खेतमें बीज तो डालना न चाहे किन्तु बाहना, जोतना क्यारियां बनाना, पानी सींचना और पहरा देना आदि सब आवश्यक क्रियायें बड़ी सावधानीके साथ करता रहा करै, तो क्या उसके खेतमें कुछ पैदा होगा या उसकी सब मेहनत निष्फल ही जायगी? ऐसा ही धर्म साधन की सहायक सब ही वाह्य क्रियाओंकी बाबत समझ लेना चाहिए। यदि वे क्रियायें इस विधिसे की जाती

हैं जिससे राग द्वेष और विषय कषायकी मंदता होती हो और अपनी आत्मा शुद्ध होती हो, तब तो वे क्रियायें लाभदायक और जरूरी हैं और यदि इस विधिसे की जाती हों जिससे रागद्वेष और विषय कषायोंकी कुछ भी मंदता न होती हो, तो वे सब धर्म क्रियायें भी एक मात्र ढौंग और संसारमें ही भ्रमानेवाली हैं—संसारसे तिराने वाली नहीं हो सकती हैं।

आजकल बहुधा हमारी दशा ऐसी ही हो रही है, जिससे धर्म-क्रियाओं द्वारा हमने आत्म-शुद्धि करना, रागद्वेष और विषय कषायों को मंद करना तो बिल्कुल भुला दिया है, किन्तु बिना आटे दालके एक मात्र आग जलाया करनेके समान, मात्र वाह्य क्रियाओंका करना ही धर्म समझ लिया है और यह ही करना शुरू कर दिया है। यदि हम पंचपरमेष्ठीका जाप करते हैं तो उनके वीतराग रूप गुणोंको जाननेकी जरूरत नहीं समझते, जिनका हम जाप करते हैं कोई २ तो पंचनमस्कारका जाप करते हुए उसके अर्थके जाननेकी भी ज़रूरत नहीं समझते, किन्तु मन्त्रके शब्दों वा मंत्रोंका मुंहसे निकलते रहना ही काफ़ी समझते हैं। और कोई कोई तो उलटा अपने राग-द्वेष और विषय कषायकी सिद्धिके वास्ते ही इन मन्त्रों को जपते हैं। अनेक भाई बिना अर्थ समझे भक्तामर स्तोत्रके संस्कृत काव्योंको पढ़कर ही अपने सांसारिक कार्यों की सिद्धि हो जानेकी आशा किया करते हैं। उपवासके दिन निराहार रहना ही काफ़ी समझते हैं। उस दिन सर्वथा आरम्भ त्याग कर धर्म-सेवनमें ही दिन व्यतीत करना ज़रूरी नहीं समझते। इस ही कारण संसारके सब कार्य करते हुए भी एक मात्र निराहार रहनेसे ही उपवासका होना समझ लेते हैं। तीर्थयात्रा-के द्वारा भी अपने भावोंकी शुद्धि नहीं की जाती है किन्तु भाव हमारे चाहे कुछ ही हों, तीर्थ पर जानेसे ही महापुण्यकी प्राप्ति होती है, इस ही श्रद्धासे जाते हैं। दान देनेके लिए भी करुणा आदिकी जरूरत नहीं, किंतु देना ही दान है। देनेसे पुण्यकी प्राप्ति होती है, इस ही वास्ते दिया जाता है—यहां तक कि कोई २ तो अपने किसी कष्टके निवारणार्थ ही दान देने लगते हैं। इसी तरह दूसरेके द्वारा पूजन कराना, यहां तक कि नित्य पूजन करते रहनेके वास्ते कोई नौकर रख देना भी धर्म साधन समझते हैं। गरज़ कहाँ तक गिनाया जाय. हमारी तो सब ही क्रियायें थोथी रह गई हैं। मानो जैनधर्म ही पृथ्वी परसे लोप हो गया है।

हम यह नहीं कहते कि यह सब क्रियायें धर्म-क्रियाये नहीं हैं, जरूर हैं और अवश्य हैं। इन वाह्य क्रियाओंके बिना तो धर्म-साधन हो ही नहीं सकता है। परन्तु आटा दालके बिना अग्नि जलानेके समान, यदि असली ग़रज़को छोड़कर केवल ये वाह्य क्रियायें ही की जावें तो यह धर्म क्रियायें नहीं हैं। केवल इन वाह्य क्रियाओंको ही धर्म मानना कोरा मिथ्याव है और इनको फिर जैनधर्मकी क्रियायें बताना तो जैनधर्मको लजाना है। परन्तु अफ़सोस है कि जब भी इनमें सुधार करनेकी आवाज़ उठाई जाती है, तब ही हमारे भोले भाई ही नहीं किन्तु अनेक विद्वान पंडित भी चिल्ला उठते हैं कि यह तो साक्षात् धर्मपर ही कुठाराघात है, जो हो रहा है वह ही होने दो, असली या नक़ली जो भी क्रिया हो रही है उस ही से जैनधर्म का नाम कायम है, नहीं तो यह भी नहीं रहेगा। परन्तु हम इसके विरुद्ध यह देखते हैं कि आजकल अन्धश्रद्धा वाले लोग कम होते जाते हैं और परीक्षा

कर असलियत को ढूंढने वाले बढ़ते जाते हैं। जब वे देखते हैं कि विद्वान लोग भी निर्जीव थोथी क्रियाओंको ही धर्म बताते हैं और सुधारकोंको अधर्मी ठहराते हैं। तब जैनधर्म वास्तवमें यह थोथा ही धर्म होगा, जिसका समर्थन विद्वानों द्वारा हो रहा है। ऐसा देखकर उनकी श्रद्धा जैनकी तरफसे शिथिल होती जाती है। अतः हमको लाचार होकर अब यह कहने की ज़रूरत पड़ती है कि हमारे परीक्षा प्रधानी भाई स्वयं जैन शास्त्रोंकी स्वाध्याय कर जैनधर्मके स्वरूपको पहचानें। जैनधर्ममें तो इस ही कारण सबसे पहले तत्त्वोंके स्वरूपको भलीभांति समझकर उन पर श्रद्धान लाना ज़रूरी बताया है। चारित्र तो उसके पीछे ही बताया है। और वह ही चारित्र सच्चा चारित्र ठहराया है जो सम्यक श्रद्धान और सम्यक् ज्ञानके अनुकूल हो, जिससे आत्माकी शुद्धि होकर उसका विभाव भाव दूर होता हो और असली स्वभाव प्रगट होता हो। इस कारण किसीके भी बहकायेमें आकर विचलित नहीं होना चाहिए किन्तु धर्मके जाननेके वास्ते धर्मशास्त्रोंको ही आधार मानना चाहिये।

जो विद्वान भाई जैनधर्मके असली स्वरूपको समझ कर वैसा ही सर्व साधारणमें प्रगट करनेका साहस रखते हैं, उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे साहस कर सुधारके लिये कमर बांधें। दुनियांके लोग तो आजकल दुनियांकी बातोंमें सुधार होनेके वास्ते भी अपना तन, मन, धन अर्पण करनेको तैयार हैं, तो क्या जैनधर्ममें ऐसे सच्चे श्रद्धानी नहीं मिलेंगे जो धर्ममें सुधार करनेके लिये उसके मानने वालोंकी मान्यताओंमें जो विकार आरहा है उसको जैनशास्त्रोंके आधारसे दूर कर शास्त्रानुकूल सत्यधर्मका प्रचार करनेके लिये खड़े हो जावें और अपने भाइयोंके विरोधका कुछ भी बुरा न मान उसको हंसते २ सहन कर जावें। ऐसे सच्चे धर्मात्मा अवश्य हैं, उन ही से हमारी यह अपील है।

महावीर-गीत

[ले०—शान्तिस्वरूप जैन 'कुसुम']

तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत।
जीवन नौका लिये गुणागर !
आये जब तरने भव सागर,
मुदित हुए सब जीव जगत्के, विपद हुई भय भीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत॥
कितनी नावें ऊब चुकी थीं,
कितनी इनमें डूब चुकीं थीं,
कितनी झंझाके झोकोंसे, बहती थीं विपरीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत॥
पर तुम थे उन सबसे न्यारे,
बाधक, साधक हुए तुम्हारे,
पहुँच गये मंजिल पर अपनी, लेकर लक्ष्य पुनीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत॥
विषय-तप्त इस दीन जगत् पर,
बर्षाया वचनामृत झर-झर,
कण-कणने पाया नवजीवन, उलट गयी सब रीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत॥
जगसे जड़ता दूर भगाकर,
सत्य अमर संगीत सुनाकर,
उसी रागसे जाग उठी फिर सोई जगकी प्रीत।
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगके मीत॥
आज मनाते जन्म तुम्हारा,
गद्गद् होता हृदय हमारा,
गाता है, गायेगा प्रभुवर ! जगत तुम्हारे गीत !
तुम थे जगके मीत, स्वामी ! तुम थे जगत के मीत।

अहिंसा

[ले०—श्री बसन्तकुमार, एम.एस.सी.]

जीवनका ध्येय निरन्तर विकसित होना है। विकासकी पूर्णावस्था जीवनकी वह स्थिति है जहाँ पहुँचकर विश्वके जीवनके साथ उसका कोई विरोध न रह सके। विकासकी यह अन्तिम अवस्था है और जीवनका आदर्श है। ज्यों ज्यों इस आदर्शकी ओर हम बढ़ते हैं त्यों त्यों हम सत्यके निकट पहुँचते हैं। इस प्रकार विकासकी ओर बढ़नेका मार्ग सत्यकी शोध और विश्व-कल्याणका मार्ग है।

जीवकी सारी प्रेरणायें और प्रक्रियायें सुखी बनने के लिये होती हैं, और ज्यों ज्यों उसकी प्रसुप्त शक्तियाँ विकसित होती जाती हैं वह सुखकी ओर बढ़ता जाता है। विकास और सुख एक ही वस्तुके दो भिन्न भिन्न पहलू हैं, अथवा यों कहिये सिक्केकी दो तरफें (Sides) हैं। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं। जितना हमारा जीवन अविरोधी और विकसित होगा उतनी ही मात्रामें हम अधिक सुखी होंगे। जीवन-सम्बन्धी सारी समस्याओं पर इसी स्वयंसिद्धिको लेकर विवेचन किया जा सकता है।

संसारके प्राणियोंके जीवनकी प्रवृत्तियाँ अधिकांशमें स्व-केन्द्रित (Self centred) होती हैं। अर्द्धविकसित और अविकसित प्राणियोंमें यह बात और भी अधिक मात्रामें पाई जाती है। उनका प्रत्येक कार्य अपने अस्तित्वको क़ायम रखनेके लिये होता है। जीवनकी इस होड़में एक प्राणी दूसरे प्राणीका आहार बना हुआ है। इसीलिये जीवनके इस स्तरमें आपको बीभत्सता, नारकीयता और अशान्तिके दर्शन होते हैं। जीवकी प्रवृत्तियोंमें ज्यों ज्यों इस स्वकेन्द्रीकरणकी मात्रा कम होती जाती है त्यों त्यों वह अधिक विकसित होता चला जाता है।

संसारकी अशान्ति और अराजकताका मूल कारण प्रवृत्तियोंका स्व-केन्द्रीकरण है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की सम्पदाको हड़प कर सुखी बनना चाहता है, एक समाज दूसरे समाजको बर्बाद कर अधिक शक्तिशाली बननेकी कल्पना करता है। अधिक व्यापक रूपमें एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अधिकार कर अपना प्रभुत्व बढ़ानेमें लगा हुआ है। पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, नाजीवाद, तथा फ़ैसिज़्म ये सब प्रवृत्तियोंके स्व-केन्द्रीकरणके आधार पर ही स्थिर हैं। इसीलिये उनका परिणाम है दुःख और अशान्ति। प्रवृत्तियोंके इस स्वकेन्द्रीकरणको देखकर शायद नैशेने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था कि जीवकी मूलभावना लोकमें शक्ति (प्रभुत्व) प्राप्त करना है। वर्तमान जर्मनी नैशेके विचारोंका मूर्तिमंत रूप है। नैशेके इस सिद्धान्तको लेकर हम किसी भी प्रकारकी स्थायी सामाजिकव्यवस्थाकी कल्पना नहीं कर सकते; उसके सारे फलितार्थ हमें अराजकता (Chaos) की ओर ले जाते हैं।

तब संसारके दुःखोंको किस प्रकार दूर किया जा सकता है? जब तक व्यक्तिके स्वार्थका समाजके स्वार्थ के साथ अविरोधीपन नहीं होता तब तक न तो व्यक्ति ही सुखी हो सकता है और न समाजही सुखका अनु-

भव कर सकता है। **जीवकी प्रवृत्तियां जब व्यक्तिको छोड़कर समष्टिकी ओर बढ़ने लगती हैं तब ही उस वस्तुका जन्म होता है जिसे हम 'अहिंसा' कहते हैं।** 'सर्वभूतहित' और 'निष्कामकर्म' के सिद्धान्त 'अहिंसा' के ही दूसरे रूप हैं। अहिंसाकी व्यापक भावना 'सर्व-भूत-हित' में समाई हुई है।

जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण शक्ति (Force of gravitation) अनन्त आकाशमें तारों, ग्रह-नक्षत्र इत्यादिको एक व्यवस्थामें बाँधे हुए हैं, उसी प्रकार अहिंसामें भी संसारको व्यवस्थित करनेकी शक्ति संनिहित है। हिंसा हमारी राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक-कठिनाइयोंका मूल कारण है और अहिंसा उनको दूर करनेका साधन है।

अव्यवस्थित वर्गीकरण और शोषण समाजके दुखका मूल कारण है। मौजूदा राजनैतिक तथा आर्थिक कानून और विधान 'संगठित-हिंसा' को जन्म देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अल्पसंख्यक वर्गके हाथमें शक्ति आजाती है और वह उसका उपयोग समाजके बहुसंख्यक वर्गके शोषणमें करता है। संसारकी अधिकतम शासन-व्यवस्थायें संगठित हिंसाका मूर्तिमंत रूप हैं। हिटलर यदि पोलैंड पर आक्रमण करता है तो इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जर्मनी की साधारण जनता हिटलरकी इन प्रवृत्तियोंसे सहानुभूति रखती है। नाँज़ी सरकार संगठित हिंसाके बलपर जर्मन जनताको युद्धके लिये विवश करती हैं। यही बात अन्य साम्राज्यवादी शासन-प्रणालियों पर लागू होती है। 'विज्ञान' को औद्योगिक केन्द्रीकरण तथा उसके दुष्परिणाम पूंजीवाद, समाजकी बेकारी, इत्यादिका दोषी ठहराया जाता है। हमारे अर्थशास्त्री भी इन बुराइयोंको विज्ञानके आविष्कारोंका स्वाभाविक परिणाम स्वीकार करके एक महत्वपूर्ण तथ्यको भुला देते हैं। वे यह नहीं सोचते कि इन बुराइयोंका मूल-कारण संगठित-हिंसा-द्वारा व्यवस्थित हमारे कानून और विधान हैं और इसी कारण विज्ञानके आविष्कार शोषण के साधन बन जाते हैं।

साम्यवाद समाजके दुखोंको नष्ट करनेके लिए आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है, लेकिन समाजके लिए व्यक्तिके जीवनको यांत्रिक बना कर वह ऐसा करना चाहता है, और **जब जीवन मशीनकी तरह काम करने लगता है तो विकास और सुख स्वप्नकी वस्तु बन जाते हैं।** इस प्रकार साम्यवाद जिन बुराइयोंको दूर करनेकी प्रतिज्ञा करता है उन्हींमें उलझता हुआ प्रतीत होता है। अहिंसा जीवनको यंत्रवत् नहीं बनाती, वह जीवनमें **'आत्मोपम्य-बुद्धि'** जाग्रत कर समाजहितमें प्रवृत्त होनेके लिये प्रेरणा करती है। साम्यवाद सार्वजनिक हितके लिये हमारी प्रवृत्तियों पर बन्धन लगाता है, अहिंसामें हमारी प्रवृत्तियाँ स्वतः ही लोक-हितके लिये होती हैं। साम्यवाद मनोविज्ञानकी अवहेलना करता है, अहिंसा मनोविज्ञानको साथ लेकर मनुष्यकी वृत्तियोंको शुद्ध करती हुई विकासकी ओर ले जाती है। इसलिये **कोई भी राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था जिसका आधार सर्वभूतहित या अहिंसा नहीं है, अपूर्ण और अधूरी है।**

युगोंसे हिंसात्मक-व्यवस्था-द्वारा अनुशासित रहनेके कारण अहिंसात्मक व्यवस्थाकी कल्पना कुछ अजीब सी मालूम पड़ती है और हम सोचते हैं कि इस प्रकार की व्यवस्थासे शायद अराजकताकी मात्रा और अधिक न बढ़ जाय, लेकिन हिंसासे भी अव्यवस्था घटती नहीं, और यह जान लेने पर कि समाजकी बीमारीका कारण हिंसा है उसके पक्षमें कोई दलील देने को नहीं

रहजाती। अहिंसामें सन्देह करने का दूसरा कारण यह है कि हम नैतिक नियमों को उपयोगी और अच्छा समझते हुए भी उनकी व्यावहारिकतामें अविश्वास रखते हैं। **राजनीति और अर्थनीति को जितना नैतिकतासे दूर रक्खा जाता है उतनी ही उनमें कृत्रिमता की मात्रा अधिक बढ़ती हैं और वे लोकहितके लिये उतनी ही अनुपयोगी सिद्ध होती हैं।** संसारमें यांत्रिक उपायोंसे सुव्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती। इस नग्न सत्य को हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। अहिंसा का तत्व इतना मनोवैज्ञानिक और आवश्यक है कि उसकी अवहेलना नही की जासकती। टाल्स्टायके निम्न शब्दों के साथ हमें सहमत होना पड़ता है—

"अहिंसाके अवलम्बन करने का केवल यही कारण नहीं है कि वह हमारी तमाम सामाजिक बुराइयों का एकमात्र रामबाण उपाय है, बल्कि हमारे ज़मानेके प्रत्येक मनुष्यके नैतिक सिद्धान्तके वह पूरी तरह अनकूल भी हैं। जन साधारणके दुखोंको दूर करनेके लिये जिस तत्वकी आवश्यकता है वही प्रत्येक मनुष्यकी आत्मिक शान्तिके लिये भी परमावश्यक है।"

इस प्रकार अहिंसा व्यक्ति और समाजके कल्याण के लिये एक आवश्यक तत्व है और उसमें जीवनकी सारी समस्याओंको हल करनेकी शक्ति संनिहित है। २५०० वर्ष पहिले भगवान् महावीर और भगवान् बुद्धने सिद्धान्तके रूपमें विश्वके लिये अहिंसाका सन्देश दिया था; गांधीजी आज एक प्रयोगवेत्ताके रूपमें व्यवहारमें उसके फलितार्थोंको दुनियाके सामने रख रहे हैं।

संसार में सुखकी वृद्धि कैसे हो ?

[श्री० दौलतराम मित्र]

एक कमरेमें मैं और मेरे पास ही दूसरेमें एक टेंथ क्लासका छात्र, दोनों पढ़ रहे थे। छात्रने पढ़ाः—

"The man whose silent days,
in harmless joys are spent"

अर्थात् सज्जन वह है जो अपनी सुख-घड़ीको दूसरोंकी दुःख घड़ी न बनने दे।

मालूम हुआ, यह केंपियन कविकी कविता है। सज्जनताके इस लक्षणका मेरे दिल पर खासा असर हो आया, और तुरन्त ही इससे मिलता जुलता और एक लक्षण मुझे याद आगयाः—

"सदाचारी वह है जो सुख-साधनोंकी लूट नहीं चाहता, किन्तु उनका विभाजन करनेकी चेष्टा करता है। सुख-साधनोंकी लूट चाहने वाला दुराचारी है।" (दरबारीलाल सत्यभक्त)। वाक़ई में सज्जनता इसीका नाम है।

चाहे वह कोई हो, जो मनुष्य श्रमसाध्य (कृषि-इत्यादि) कर्मोंको छोड़कर बुद्धि और सम्पत्तिका दुरुपयोग करके उसके बलपर दूसरोंके कंधों पर बैठ कर जन साधारणके सुख-साधनोंकी लूट खसोटमें लगा हुआ है, जिससे दूसरोंके सत्व-रक्षाकी पर्वाह नहीं है वह तो सज्जन नहीं हो सकता।

अतएव यदि हम संसारमें सुखकी वृद्धि देखना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम संसार भरमें अति परिग्रह-विरोधी जैनाचारकी उपयोगिताके प्रचार प्रसिद्ध करनेका उद्योग करें, ताकि दुराचारियोंकी संख्या बढ़ने न पावे, सदाचारियोंकी संख्या बढ़े और संसारमें सुखकी वृद्धि होवे।

परन्तु अफ़सोस आज दुनियाकी सूझ (दृष्टि) औंधी (मिथ्या) हो रही है। जैसा कि "एल.पी. जैक्स" का कथन है कि—

"आजकी दुनिया सम्पत्तिको सामाजिक (सर्वसाधारणकी चीज) बनाना चहती है; लेकिन मनुष्यको—उसके स्वभावको—सामाजिक बनानेकी बात उसे सूझती नहीं। जब तक यह नहीं होगा, तब तक कोई भी "इज़्म" (वाद) स्थापित नहीं हो सकेगा। अगर मनुष्यका चरित्र सुधर जाय तो चाहे जिस "इज़म" से निभ जायगा।

आओ हम सब मंगल कामना करें और साथ ही तदनुकूल प्रयत्न भी करें कि दुनियाँको सीधी (सम्यक्) सूझ (दृष्टि) प्राप्त हो। इसीसे ससारमें सुखकी वृद्धि हो सकेगी।

प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र

[सम्पादकीय]

अभी तक हम उमास्वाति या उमास्वामी आचार्यके तत्त्वार्थसूत्रको ही जानते हैं—'तत्त्वार्थसूत्र' नामसे प्रायः उसीकी प्रसिद्धि है। परन्तु हालमें एक दूसरा पुरातन तत्त्वार्थसूत्र भी उपलब्ध हुआ है, जिसके कर्त्ता आचार्य प्रभाचन्द्र हैं। ग्रंथकी सन्धियोंमें प्रभाचन्द्राचार्यके साथ 'बृहत्' विशेषण लगा हुआ है, जिससे यह ध्वनित होता है कि प्रकृत ग्रंथ बड़े प्रभाचन्द्रका बनाया हुआ है। प्रभाचन्द्र नामके अनेक आचार्य हो गये हैं†। बड़े प्रभाचन्द्र आम तौर पर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'न्यायकुमुदचंद्र' के कर्त्ता समझे जाते हैं; परंतु इनसे भी पहले प्रभाचंद्र नामके कुछ आचार्य हुए हैं, जिनमेंसे एक तो परलुरु-निवासी 'विनयनन्दी' आचार्यके शिष्य थे और जिन्हें चालुक्य राजा 'कीर्तिवर्मा' प्रथमने एक दान दिया था ‡। ये आचार्य विक्रमकी छठी और सातवीं शताब्दीके विद्वान थे; क्योंकि उक्त कीर्तिवर्माका अस्तित्व-समय शक सं० ४८९ (वि० स०६२४) पाया जाता है। दूसरे वे प्रभाचंद्र हैं जिनका श्री पूज्यपादाचार्य-कृत 'जैनेन्द्र' व्याकरणके **'रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य'** इस सूत्रमें उल्लेख मिलता है, और इस लिये जो विक्रमकी छठी शताब्दीसे पहले हुए हैं; क्योंकि आचार्य पूज्यपादका समय विक्रमकी छठी शताब्दी सुनिश्चित है। और तीसरे वे प्रभाचन्द्र हैं जिनका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के प्रथम शिलालेखमें पाया जाता है, और जिनकी बाबत यह कहा जाता है कि वे भद्रबाहुश्रुतकेवलीके दीक्षित शिष्य सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' थे। इनका समय विक्रम सं० से भी कोई तीनसौ वर्ष पहले का है। तब यह ग्रंथ कौनसे बड़े प्रभाचंद्राचार्यकी कृति है, यह बात निश्चितरूपसे नहीं कही जासकती। इसके लिये विशेष खोज होनेकी ज़रूरत है। फिर भी इतना तो कह सकते हैं कि यह भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य प्रभाचन्द्रकी कृति नहीं है; क्योंकि उनके द्वारा किसी भी ग्रंथ-रचनाके होने का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

† देखो, माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना, पृ० ५७ से ६६ तक।

‡ देखो, 'साउथइण्डियन जैनिज़्म', भाग दूसरा, पृ० ८८।

ग्रन्थप्रति और उसकी प्राप्ति

उक्त तत्त्वार्थसूत्रकी यह उपलब्ध प्रति पौने दस इञ्च लम्बे और पांच इञ्च चौड़े आकारके आठ पत्रों पर है। प्रथम पत्रका पहला और अन्तिम पत्रका दूसरा पृष्ठ खाली है, और इस तरह ग्रंथ की पृष्ठ-संख्या १४ है। प्रत्येक पृष्ठपर ५ पंक्तियां हैं, परन्तु अन्तके पृष्ठपर ४ पंक्तियां होनेसे कुल पंक्ति-संख्या ६९ होती है। प्रति पृष्ठ अक्षर-संख्या २० के करीब है, और इसलिये ग्रंथकी श्लोकसंख्या (३२ अक्षरोंके परिमाणसे) ४४ के करीब बैठती है।

काग़ज़ देशी साधारण कुछ पतला और खुर्दरासा लगा है। लिखाई मोटे अक्षरोंमें है और उसमें कहीं

कहीं स्वरादि-संधि-सूचक संकेतचिन्ह, पदोंकी विभिन्नता-सूचक चिन्ह तथा संख्या-सूचक अंक भी बारीक टाइपमें (लघुआकारमें) अक्षरोंके ऊपरकी ओर लगाये गयेहैं।

टिप्पणी एक स्थान को छोड़कर और कहीं भी नहीं है, और वह है "त्रिविधा भोगभूमयः" सूत्र पर "जघन्य १ मध्य २ उत्कृष्ट ३" के रूपमें, जो प्रायः प्रतिलिपि करने वालेके ही हाथ की लिखी हुई जान पड़ती है और इस बात को सूचित करती है कि जिस प्रति परसे यह प्रति उतारी गई है संभवतः उसमें भी वह इसी रूपमें होगी।

इस प्रतिमें अनुस्वारको कहीं भी पंचमाक्षर नहीं किया गया है। ओकार की आकृति 'उं और औकार की 'ऊं' दी है। अंकोंमें ६-९ की आकृति क्रमशः '६' और 'ण्' दी है।

ग्रंथप्रति यद्यपि अधिकांशमें शुद्ध है, फिर भी उसमें कुछ साधारण तथा महत्वकी अशुद्धियां भी पाई जाती हैं। व-ब का भेद तो बहुत ही कम रक्खा हुआ जान पड़ता है—कहीं कहीं तो इन अक्षरोंका प्रयोग ठीक हुआ है, और कहीं वकार की जगह बकार और बकार की जगह वकारका प्रयोग कर दिया गया है—जैसे बिधो, बिधः, द्रव्य, बिग्रहा, देब्यः, बर्षाणि, बिधा, चतुर्बिंशति, बैमानिका, बिघ्न, बिरति, बिधं, पंचबिंन्शति, अष्टाबिंशति, ज्ञानाबरण, बिंशति, संबरः और बिरचिते (सर्वत्र) इनमें 'व'के स्थान पर 'ब' का प्रयोग हुआ है; और जंबू ब्रह्मालया तथा बहु, इन शब्दोंमें 'ब' के स्थान पर 'व' का प्रयोग हुआ है, जो अशुद्ध है, और यह सब प्रायः लिपिकारकी नित्यकी बोल-चालके अभ्याससे सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है।

ग्रन्थप्रतिके अन्तमें यद्यपि लिपि-सम्वत् दिया हुआ नहीं है, फिर भी यह प्रति अपने काग़ज़की स्थिति और लिखावट आदिपरसे २५०-३०० वर्षसे कमकी लिखी हुई मालूम नहीं होती। इसे पण्डित रतनलालने कोटषावदामें लिखा है, जैसा कि इसकी निम्न अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है:—

"पंडित रतनलालेन लिषितं कोटषावदामध्ये संपूर्णजातः"

मालूम नहीं यह 'कोटषावदा' स्थान कहाँपर स्थित है। परन्तु इस ग्रन्थप्रतिकी प्राप्ति वर्तमानमें कोटा (रियासत)से हुई है। कोटामें भाई केसरीमलजी एक प्रमुख खण्डेलवाल जैन तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं, उनके पास रामपुर जि० सहारनपुर निवासी बाबू कौशलप्रसादजीने, जो आजकल सहारनपुरमें तिलक बीमा कम्पनीके चीफ़ एजेंट हैं, यह ग्रन्थ देखा और इसे एक अपूर्व चीज समझकर उनके पाससे ले आए तथा विशेष जाँच पड़ताल एवं परिचयादिके लिये मेरे सुपुर्द किया, जिसके लिये मैं उनका बहुत ही आभारी हूँ।

भाई केसरीमलजीने इस ग्रंथकी प्राप्तिका जो इतिहास बा० कौशलप्रसादजीको बतलाया उससे मालूम हुआ कि 'कोटामें भट्टारककी एक गद्दी थी, उस गद्दीपर दुर्भाग्यसे एक ऐसा ही आदमी आगया जिसने वहाँका सारा शास्त्रभण्डार रद्दीमें बेच दिया! कुछ दिन पहले केसरीमलजीने इस प्रकारकी रद्दीकी एक बोरी एक मुसलमान बोहरेके यहाँ देखी और उसे आठ आनेमें ख़रीद लिया। उसी बोरीमेंसे इस ग्रन्थरत्नकी प्राप्ति हुई है।' ग्रंथ प्राप्तिकी यह छोटीसी घटना बड़ी ही हृदयद्रावक है और इससे जैनियोंके शास्त्रभण्डारोंकी अव्यवस्था, अपात्रोंके हाथमें उनकी सत्ता और साथ ही अनोखी श्रुतभक्तिपर दो आँसू बहाये बिना नहीं रहा जाता! जैनियोंकी इस लापर्वाही और ग्रन्थोंकी बेदर-

कारीके कारण न मालूम कितने ग्रंथरत्न पसारियोंकी दुकानोंपर पुड़ियाओंमें बँध बँधकर नष्ट हो चुके हैं !! कितने ही ग्रंथोंका उल्लेख तो मिलता है परन्तु वे ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं । इस विषयमें दिगम्बर समाज सबसे अधिक अपराधी है, उसकी ग़फ़लत अबतक भी दूर नहीं हुई और वह आज भी अपने ग्रंथोंकी खोज और उनके उद्धारके लिये कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं कर रहा है । और तो क्या, दिगम्बर ग्रन्थोंकी कोई अच्छी व्यवस्थित सूची तक भी वह अबतक तैय्यार करानेमें समर्थ नहीं हो सका; जबकि श्वेताम्बर समाज अपने ग्रंथोंकी ऐसी अनेक विशालकाय-सूचियाँ प्रकट कर चुका है । जिनवाणी माताकी भक्तिका गीत गानेवालों और उसे नित्य ही अर्घ चढ़ानेवालोंके लिये ये सब बातें निःसन्देह बड़ी ही लज्जाका विषय हैं । उन्हें इनपर ध्यान देकर शीघ्र ही अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये—ऐसा कोई व्यवस्थित प्रयत्न करना चाहिये जिससे शीघ्र ही लुप्तप्राय जैन ग्रंथोंकी खोजका काम ज़ोरके साथ चलाया जासके, खोजे हुए ग्रन्थोंका उद्धार हो सके और संपूर्ण जैन ग्रंथोंकी एक मुकम्मल तथा सुव्यवस्थित सूची तैयार हो सके । अस्तु ।

अब मैं मूल ग्रन्थको अनुवादके साथ अनेकान्तके पाठकोंके सामने रखकर उन्हें उसका पूरा परिचय करा देना चाहता हूँ । परन्तु ऐसा करनेसे पहले इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि यह ग्रंथ आकारमें छोटा होनेपर भी उमास्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रकी तरह दश अध्यायोंमें विभक्त है, मूल विषय भी इसका उसीके समान मोक्षमार्गका प्रतिपादन है और उसका क्रम भी प्रायः एक ही जैसा है—कहीं कहीं पर थोड़ासा कुछ विशेष ज़रूर पाया जाता है, जिसे आगे यथावसर सूचित कर दिया जायगा । इन अध्यायोंमें सूत्रोंकी संख्या क्रमशः १५, १२, १८, ६, ११, १४, ११, ८, ७, ५ हैं, और इस तरह कुल सूत्र १०७ हैं । इस सूत्रमें दश अध्याय होनेके कारण इसे '**दशसूत्र**' नाम भी दिया गया है—उमास्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रको भी 'दशसूत्र' कहा जाता है,—और यह नाम ग्रंथकी प्रथम पंक्तिमें ही, उसका लिखना प्रारम्भ करते हुए, '**अथ**' और '**लिख्यते**' पदोंके मध्यमें दिया है ! ग्रंथके अन्तमें—१०वीं संधि (पुष्पिका) के अनन्तर—'**इति**' और '**समाप्तं**' पदोंके मध्यमें इसे '**जिनकल्पी सूत्र**' भी लिखा है । इस प्रकार ग्रंथप्रतिके आदि, मध्यम और अन्तमें इस सूत्रग्रंथके क्रमशः दशसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र और जिनकल्पी सूत्र, ऐसे तीन नाम दिये हैं । पिछला नाम अपनी खास विशेषता रखता है और उसने बा० कौशलप्रसादजीको इस ग्रन्थको कोटासे लानेके लिये और भी अधिक प्रेरित किया है । हाँ, मात्र १०वीं संधिमें 'तत्त्वार्थसूत्र' के स्थानपर 'तत्त्वार्थसारसूत्र' ऐसा नामोल्लेख भी है, जिसका यह आशय होता है कि यह ग्रंथ तत्त्वार्थ विषयका सारभूत ग्रंथ है अथवा इस सूत्रमें तत्त्वार्थशास्त्रका सार खींचा गया है । पिछले आशयसे यह भी ध्वनित हो सकता है कि इस ग्रथमें सम्भवतः उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका ही सार खींचा गया हो । ग्रन्थ-प्रकृति और उसके अर्थ-सादृश्यको देखते हुए, यद्यपि, यह बात कुछ असंगत मालूम नहीं होती बल्कि अधिकतर झुकाव उसके माननेकी ओर होता है; फिर भी ९ संधियोंमें 'सार' शब्दका प्रयोग न होनेसे १०वीं संधिमें उसके प्रयोगको प्रक्षिप्त भी कहा जा सकता है । कुछ भी हो, अभी ये सब बातें विशेष अनुसंधानसे सम्बन्ध रखती हैं, और इसके लिये ग्रंथकी दूसरी प्रतियोंको भी खोजनेकी जरूरत है । साथ ही, यह भी मालूम होना ज़रूरी है कि इस सूत्रग्रन्थपर कोई टीका-टिप्पणी भी लिखी गई है

याकि नहीं—जिसके लिखे जानेकी बहुत बड़ी सम्भावना है। यदि कोई टीका-टीप्पणी उपलब्ध है तो उसे भी विशेष परिचयादिके द्वारा प्रकाशमें लाना चाहिये।

फिर भी इस ग्रंथके विषयमें इतना कह देनेमें तो कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि इसके सूत्र अर्थ-गौरवको लिये होने पर भी आकारमें छोटे, सुगम, कण्ठ करने तथा याद रखनेमें आसान है, और उनसे तत्त्वार्थ-शास्त्र अथवा मोक्षशास्त्रका मूल विषय सूचनारूपमें संक्षेपतः सामने आजाता है।

एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि इस सूत्रग्रन्थके शुरूमें प्रतिपाद्य विषयके सम्बंध-को व्यक्त करता हुआ एक पद्य मंगलाचरणका है, परन्तु अन्तमें ग्रंथकी समाप्ति आदिका सूचक कोई पद्य नहीं है! ऐसे गद्यात्मक सूत्रग्रंथोंमें जिनका प्रारम्भ मंगलाचर-णादिके रूपमें किसी पद्य-द्वारा होता है उनके अन्तमें भी कोई पद्य समाप्ति आदिका जरूर होता है, ऐसा अक्सर देखनेमें आया है। उदाहरणके लिये परीक्षा-मुखसूत्र, न्यायदीपिका और राजवार्तिकको ले सकते हैं, इन ग्रंथोंमें आदिके समान अन्तमें भी एक एक पद्य पाया जाता है। जिन ग्रंथ-प्रतियोंमें वह उपलब्ध नहीं होता उनमें वह लिखनेसे छूट गया है, जैसे कि न्याय-दीपिका और राजवार्तिककी मुद्रित प्रतियोंमें अन्तका पद्य छूट गया है, उसे दूसरी हस्तलिखित प्रतियों पर से खोजकर प्रकट किया जा चुका है*। ऐसी स्थिति होते हुए इस सूत्रग्रंथके अन्तमें भी कमसे कम एक पद्यके होनेकी बहुत बड़ी सम्भावना है। मेरे ख्यालसे वह पद्य इस ग्रंथप्रतिमें अथवा जिसपरसे यह प्रतिकी गई है उसमें छूट गया है। उसके सामने आने पर और भी कुछ बातों पर प्रकाश पड़नेकी संभावना है, और इस लिये इस ग्रंथकी दूसरी प्रतियोंको खोजनेकी और भी ज़्यादा ज़रूरत है। आशा है इसके लिये साहित्य-प्रेमी विद्वान् अपने अपने यहाँके शास्त्रभंडारोंको ज़रूर ही खोजनेका प्रयत्न करेंगे और अपनी खोजके परिणामसे मुझे शीघ्र ही सूचित कर अनुगृहीत करेंगे।

मूलग्रंथ और उसका अनुवादादिक

नीचे मूल ग्रंथके सूत्रादिको उदधृत करते हुए जहाँ मूलका पाठ स्पष्टतया अशुद्ध जान पड़ा है वहाँ उसके स्थान पर वह पाठ दे दिया गया है जो अपनेको शुद्ध प्रतीत हुआ है और ग्रन्थप्रतिमें पाये जाने वाले अशुद्ध पाठको फुटनोटमें दिखला दिया है, जिससे वस्तुस्थितिके ठीक समझनेमें कोई प्रकारका भ्रम न रहे और न मूल सूत्रोंके पढ़ने तथा समझनेमें कोई दिक्कत ही उपस्थित होवे। परन्तु वकारके स्थान पर बकार और बकारके स्थान पर वकार बनानेकी जिन अशुद्धियोंको ऊपर सूचित किया जा चुका है उन्हें फुटनोटोंमें दिखलानेकी ज़रूरत नहीं समझी गई। इसी तरह संधि तथा पद-विभि-न्नतादिके संकेतचिन्होंको भी देनेकी ज़रूरत नहीं समझी गई। इसके अतिरिक्त जो अक्षर सूत्रोंमें छूटे हुए जान पड़े हैं उन्हें सूत्रोंके साथ ही [ ] इस प्रकारके कोष्ठकके भीतर रख दिया है और जो पाठ अधिक संभाव्य प्रतीत हुए हैं उन्हें प्रश्नांकके साथ (…?) ऐसे कोष्ठकमें देदिया है। पाई(।) दो पाई (॥)के विरामचिन्ह ग्रंथमें लगे हुए नहीं हैं, परंतु उनके लिये स्थान छुटा हुआ है, उन्हें भी यहां दे दिया है। और इस तरह मूल ग्रंथको उसके असली रूपमें पाठकोंके सामने रखनेका भरसक यत्न किया गया है; फिर भी यदि

* देखो, प्रथम वर्षके 'अनेकान्त' की ५ वीं किरण में 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षक लेखका नं०१२, १३ पृ० २७२।

कोई अशुद्धियाँ रह गई हों तो उन्हें विज्ञ पाठक सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे उनका सुधार हो सके।

अनुवादको मूल सूत्रादिके अनन्तर अनुवादके रूपमें ही रक्खा गया है—व्याख्यादिके रूपमें नहीं। और उसे एक ही पैरेग्राफमें सिंगल इनवर्टेडकामाज़ के भीतर देदिया गया है, जिससे मूलको मूलके रूपमें ही समझा जा सके। जहां कहीं विशेष व्याख्या, स्पष्टीकरण अथवा तुलनाकी ज़रूरत पड़ी है वहां उस सब को अनुवादके अनन्तर भिन्न पैरेग्राफोंमें अलग दे दिया है।

इस प्रकार यह मूल ग्रन्थ और उसके अनुवादादिक को देनेकी पद्धति है, जिसे यहां अपनाया गया है।

ग्रन्थारंभसे पूर्व का अंश

॥ ऐं ॥ ॐ नमःसिद्धं। अथ दशसूत्रं‡ लिख्यते।

'ऐं, ॐ, सिद्ध को नमस्कार। यहां (अथवा अब) दशसूत्र लिखा जाता है।'

यह प्रायः लिपिकर्त्ता लेखकका मंगलाचरणके साथ ग्रंथका नामोल्लेख-पूर्वक उसके लिखनेकी प्रतिज्ञा एवं सूचनाका वाक्य है। हो सकता है कि यह वाक्य प्रकृत ग्रंथप्रतिके लेखक पं०रतनलालकी खुदकी कृति न हो बल्कि उस ग्रंथप्रतिमें ही इस रूपसे लिखा हो जिस पर से उन्होंने यह प्रति उतारी है। मूल ग्रंथ के मंगलाचरणादिके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है।

पहला अध्याय

मूलका मंगलाचरण

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः सनातनः।
आविरासीद्यतो वंदे तमहं वीरमच्युतं ॥१॥

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप सनातन मोक्ष-मार्ग जिससे—जिसके उपदेशसे—प्रकट हुआ है उस अच्युत वीरकी मैं वन्दना करता हूँ।'

इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय मोक्षमार्ग है, उस सनातन मोक्षमार्गका जिनके उपदेश द्वारा लोकमें आविर्भाव हुआ है—पुनः प्रकटीकरण हुआ है—उन अमर-अविनाशी वीर प्रभुका उनके उस गुणविशेषके साथ वन्दन-स्मरण करके यहां यह व्यक्त किया गया है कि इस ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका सम्बंध वीरप्रभुके उपदेशसे है— उसीके अनुसार सब कुछ कथन किया गया है।

सूत्रारम्भ

सम्यग्दर्शनाऽवगमवृत्तानि मोक्षहेतुः ॥१॥

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिले हुए—मोक्षका साधन है।'

यह सूत्र और उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका पहला सूत्र दोनों एकही टाइप और एक ही आशयके हैं। अक्षर-संख्या भी दोनोंकी १५-१५ ही है। वहां ज्ञान, चारित्र और मार्ग शब्दोंका प्रयोग हुआ है तब यहाँ उनके स्थान पर क्रमशः अवगम, वृत्त और हेतु शब्दोंका प्रयोग हुआ है, जो समान अर्थके ही द्योतक हैं।

जीवादिसप्ततत्त्वं ॥२॥

'जीव आदि सात तत्त्व हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे छह तत्त्वोंके ग्रहणका निर्देश है, क्योंकि जैनागममें जीव सहित इन तत्त्वोंकी ही 'सप्ततत्त्व' संज्ञा है। यह सूत्र और उमास्वातिका ४था सूत्र दोनों एकार्थ-वाचक हैं। उसमें सातों तत्त्वोंके नाम दिये गये हैं तब इसमें 'आदि' शब्दसे शेष छह रूढ़ तत्त्वोंका संग्रह किया गया है, और इसलिये इसमें अक्षरोंकी संख्या अल्प हो गई है।

‡ ग्रन्थप्रतिमें 'दशसूत्र' ऐसा अशुद्ध पाठ है।

तदर्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ॥३॥

उनके—सप्ततत्त्वोंके—अर्थश्रद्धानको—निश्चयरूप रुचिविशेषको—सम्यग्दर्शन कहते हैं।'

यह उमास्वातिके द्वितीय सूत्रके साथ मिलता जुलता है। दोनोंकी अक्षर संख्या भी समान है—वहाँ 'तत्त्वार्थ-श्रद्धानं' पद दिया है तब यहां 'तदर्थश्रद्धानं' पदके द्वारा वही आशय व्यक्त किया गया है। भेद दोनोंमें कथन-शैलीका है। उमास्वातिने सम्यग्दर्शनके लक्षणमें प्रयुक्त हुए 'तत्त्व' शब्दको आगे जाकर स्पष्ट किया है और प्रभाचन्द्रने पहले 'तत्त्व' को बतला कर फिर उसके अर्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है और इस तरह कथनका सरल मार्ग अंगीकार किया है। कथनका यह शैली-भेद आगे भी बराबर चलता रहा है।

तदुत्पत्तिर्द्विधा ॥४॥

'उस—सम्यग्दर्शन—की उत्पत्ति दो प्रकारसे है।'

यहां उन दो प्रकारोंका–आगमकथित निसर्ग और अधिगम भेदोंका–उल्लेख न करके उनकी मात्र सूचना की गई है; जबकि उमास्वातिने **'तन्निसर्गादधिगमाद्वा'** इस तृतीय सूत्रके द्वारा उनका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

नामादिना तन्न्यासः ॥५॥

'नाम आदिके द्वारा उनका–सम्यग्दर्शनादिका तथा जीवादि तत्त्वोंका—न्यास (निक्षेप) होता है—व्यवस्थापन और विभाजन किया जाता है।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे स्थापना, द्रव्य और भावके ग्रहणका निर्देश है; क्योंकि आगममें न्यास अथवा निक्षेपके चार ही भेद किये गये हैं और वे षट्खण्डागमादि मूल ग्रंथोंमें बहुत ही रूढ़ तथा प्रसिद्ध हैं और उनका बार बार उल्लेख आया है। और इसलिये इस सूत्रका भी वही आशय है जो उमास्वातिके पाँचवें सूत्र **''नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः''** का होता है।

प्रमाणे द्वे ॥६॥

'प्रमाण दो हैं।'

यहाँ दोकी संख्याका निर्देश करनेसे प्रमाणके आगम-कथित प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों भेदोंका संग्रह किया गया है। यह उमास्वातिके १०वें सूत्र **"तत्प्रमाणे"** के साथ मिलता-जुलता है, परन्तु दोनोंकी कथनशैली और कथनक्रम भिन्न हैं। इसमें प्रमाणके सर्वार्थसिद्धि-कथित 'स्वार्थ' और परार्थ नामके दो भेदोंका भी समावेश हो जाता है।

नयाः सप्त ॥७॥

'नय सात हैं।'

यहाँ सातकी संख्याका निर्देश करनेसे नयोंके आगम-कथित नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे सात भेदोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिने नयोंका उल्लेख यद्यपि **'प्रमाण-नयैरधिगमः'** इस छठे सूत्रमें किया है परन्तु उनकी *सात संख्या और नामोंका सूचक सूत्र प्रथम अध्याय के अन्तमें दिया है। यहाँ दूसरा ही क्रम रक्खा गया है और उक्त छठे सूत्रके आशयका जो सूत्र यहाँ दिया है वह इससे अगला आठवाँ सूत्र है।

*** श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ और उसके भाष्यमें नयों की मूल संख्या नैगम, संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द, ऐसे पांच दी है, फिर नैगमके दो और शब्द नयके साम्प्रत, समभिरूढ, एवंभूत ऐसे तीन भेद किये गये हैं, और इस तरह नयके आठ भेद किये हैं। परन्तु पं० सुखलालजी अपनी तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें यह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि जैनागमों और दिगम्बरीय ग्रंथों की परम्परा उक्त सात नयोंकी ही है।**

तैरधिगमस्तत्त्वानां ॥८॥

'उन—प्रमाणों तथा नयों—के द्वारा तत्त्वोंका विशेष ज्ञान होता है।'

इस सूत्रमें **'प्रमाणनयैः'** की जगत **'तैः'** पदके प्रयोग से जहां सूत्रका लाघव हुआ है वहां **'तत्त्वानां'** पद कुछ अधिक जान पड़ता है। यह पद उमास्वातिके उक्त छठे सूत्रमें नहीं है फिर भी इस पदसे अर्थमें स्पष्टता जरूर आ जाती है।

सदादिभिश्च ॥९॥

'सत् आदिके द्वारा भी तत्त्वोंका विशेष ज्ञान होता है।'

यहां 'आदि' शब्दसे संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व नामके सात अनुयोग-द्वारोंके ग्रहणका निर्देश है; क्योंकि सत्-पूर्वक इन अनुयोगद्वारोंकी आठ संख्या आगममें रूढ़ है—षट्खण्डागमादिकमें इनका बहुत विस्तारके साथ वर्णन है। इस सूत्रका और उमास्वातिके **'सत्संख्यादि'** सूत्र नं० ८ का एक ही आशय है।

†मत्यादीनि [पंच] ज्ञानानि ॥१०॥

'मति आदिक पांच ज्ञान हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दके द्वारा श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल, इन चार ज्ञानोंका संग्रह किया गया है, क्योंकि मति-पूर्वक ये ही पाँच ज्ञान आगममें वर्णित हैं।

क्षयोपशम [क्षय] हेतवः ॥११॥

'मत्यादिक ज्ञान क्षयोपशम-क्षय हेतुक है।'

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, ये चार ज्ञान तो मतिज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होते हैं, इसलिये 'क्षायोपशामिक' कहलाते हैं और केवलज्ञान ज्ञानावरणादि-घातियाकर्म-प्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न होता है, इसलिये 'क्षायिक' कहा जाता है।

षड्विधोऽवधिः ॥१२॥

'अवधिज्ञान छह भेदरूप है।'

यहां छहकी संख्याका निर्देश करनेसे अवधिज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेदोंका ग्रहण किया गया है, जो सब क्षयोपशमके निमित्तसे ही होते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान जो देव-नारकियोंके बतलाया गया है वह भी क्षयोपशमके बिना नहीं होता और छह भेदोंमें उसका भी अन्तर्भाव हो जाता है, इसीसे यहाँ उसका पृथक् रूपसे ग्रहण करना नहीं पाया जाता। यह सूत्र उमास्वातिके **'क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां'** इस २२ वें सूत्रके साथ मिलता-जुलता है।

द्विविधो मनःपर्ययः ॥१३॥

'मनः पर्ययज्ञान दो भेदरूप है।'

यहां दोकी संख्याके निर्देश द्वारा मनः पर्ययके ऋजुमति और विपुलमति दोनों प्रसिद्ध भेदोंका संग्रह किया गया है और इसलिये इसका वही आशय है जो उमास्वातिके **'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः'** इस सूत्र नं० २३ का होता है।

अखंडं केवलं ॥ १४ ॥

'केवलज्ञान अखंड है—उसके कोई भेद-प्रभेद नहीं है।'

इस सूत्रके आशयका कोई सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं है।

समयं† समयमेकत्र चत्वारि ॥ १५ ॥

'कभी कभी एक जीवमें युगपत् चार ज्ञान होते हैं। केवलज्ञानको छोड़ कर शेष चार ज्ञान एक स्थान

† स।

† ब

पर किसी समय युगपत् हो सकते हैं। इससे दो तीन ज्ञानोंका भी एक साथ होना ध्वनित होता है। दो एक साथ होंगे तो मति, श्रुत होंगे, और तीन होंगे तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत और मनः पर्यय होंगे। एक ज्ञान केवलज्ञान ही होता है—उसके साथमें दूसरे ज्ञान नहीं रहते। यह सूत्र उमास्वातिके **एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः**' इस सूत्रके समकक्ष है और इसी-जैसे आशयको लिये हुए है। परन्तु इसकी शब्द-रचना कुछ सन्दिग्धसी जान पड़ती है। संभव है **'एकत्रचत्वारि'** के स्थान पर **'एकत्रैक द्वित्रिचत्वारि'** ऐसा पाठ हो।

इति श्री बृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे प्रथमोध्यायः ॥ १ ॥

'इस प्रकार श्री बृहत् प्रभाचन्द्र-विरचित तत्त्वार्थ-सूत्रमें पहला अध्याय समाप्त हुआ।'

दूसरा अध्याय

जीवस्य पंचभावाः ॥ १ ॥

'जीवके पंचभाव होते हैं।'

यहां पाँचकी संख्याका निर्देश करनेसे जीवके आगम-कथित औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, ऐसे पांच भावोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिके दूसरे अध्यायका "औपशमिकक्षायिकौ" आदि प्रथम सूत्र भी जीवके भावोंका द्योतक है। उसमें पांचोंके नाम दिये हैं, जिससे वह बड़ा सूत्र हो गया है। आशय दोनोंका प्रायः एक ही है।

उपयोगस्तल्लक्षणं ॥ १ ॥

'जीवका लक्षण उपयोग है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका **'उपयोगो लक्षणं'** नामका सूत्र एक ही अर्थके वाचक हैं।

सद्विधः ॥ ३ ॥

'वह (उपयोग) दो प्रकारका होता है।'

यहां दोकी संख्याका निर्देश करनेसे उपयोगके आगमकथित दो मूल भेदोंका संग्रह किया गया है—उत्तर भेदोंका वैसा कोई निर्देश नहीं किया जैसा कि उमास्वातिके **"सद्विविधोऽष्टचतुर्भेदः"** इस सूत्र नं० ६ में पाया जाता है।

द्वींद्रियादयस्त्रसाः ॥ ४ ॥

'द्वीन्द्रियादिक जीव त्रस हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा संज्ञी-असंज्ञीके भेदरूप पंचेन्द्रिय जीवोंके ग्रहणका निर्देश है। यह सूत्र और उमास्वातिका १४ वाँ सूत्र अक्षरशः एक ही हैं †।

शेषाः‡ स्थावराः ॥ ५ ॥

'शेष (एकेन्द्रिय) जीव स्थावर हैं।'

उमास्वातिके दिगम्बरीय सूत्रपाठके **'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः'** सूत्र नं० १३ का जो आशय है वही इस सूत्रका है। और इसलिए स्थावर जीव पृथिवी आदिके भेदसे पांच प्रकारके हैं।

द्रव्यभावभेदादिंद्रियं द्विप्रकारं ॥ ६ ॥

'द्रव्य और भावके भेदसे इन्द्रिय दो प्रकार है।'

इस सूत्रमें यद्यपि उमास्वातिके **"द्विविधानि'** १६,

---

* द्वि।

† श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें १४वें सूत्रका रूप **'तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः'** ऐसा दिया है; क्योंकि श्वेताम्बरीय भाई अग्नि और वायुकायके जीवोंको भी त्रस जीव मानते हैं।

‡ षा

'निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं' १७, लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं १८, इन तीन सूत्रोंके आशयका समावेश है, परन्तु द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदोंको खोला नहीं।

विग्रहाद्या गतयः ॥७॥

'विग्रहा आदि गतियां हैं।'

यहाँ गतियोंकी कोई संख्या नहीं दी। विग्रहागति संसारी जीवोंकी और अविग्रहा मुक्त जीवोंकी होती है। अविग्रहाको 'इषुगति' भी कहते हैं, और 'विग्रहा' के तीन भेद किये जाते हैं—१ पाणिमुक्ता २ लाङ्गलिका ३ गोमूत्रिका। आर्षग्रंथोंमें इषुगति-सहित इन्हें गतिके चार भेद गिनाये हैं। यदि इन चारोंका ही अभिप्राय यहाँ होता तो इस सूत्रका कुछ दूसरा ही रूप होता। अतः विग्रहा, अविग्रहाके अतिरिक्त गतिके नरकगति, तिर्यंचगति, देवगति,मनुष्यगति ऐसे जो चारभेद और भी किये जाते हैं उनका भी समावेश इस सूत्रमें हो सकता है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें इस प्रकारका कोई अलग सूत्र नहीं है—यों **'अविग्रहाजीवस्य, विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः, एकसमयाऽविग्रहा'** आदि सूत्रोंमें गतियोंका उल्लेख पाया ही जाता है।

सचित्तादयो योनयः ॥ ८ ॥

'सचित्त आदि योनियाँ हैं।'

यहाँ सूत्रमें यद्यपि योनियोंकी संख्या नहीं दी; परंतु सचित्त योनिसे जिनका प्रारम्भ होता है उनकी संख्या आगममें नव है—ग्रंथप्रतिमें **'योनयः'** पद पर ९ का अंक भी दिया हुआ है। ऐसी हालतमें उमास्वातिके **"सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः"** इस सूत्र नं० ३२ का जो आशय है वही इस सूत्रका आशय समझना चाहिये।

औदारिकादीनि शरीराणि ॥९॥

'औदारिक आदि शरीर होते हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण नामके चार शरीरोंके ग्रहणका संकेत है; क्योंकि औदारिक-सहित शरीरोंके पांच ही भेद आगममें पाये जाते हैं। और इसलिये इस सूत्रका वही आशय है जो उमास्वातिके **'औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि"** इस सूत्र नं० ३६ का है।

एकस्मिन्नात्मन्याचतुर्भ्यः ॥१०॥

'एक जीवमें चार तक शरीर (एक साथ) होते हैं।'

यह सूत्र उमास्वातिके **"तदादीनिभाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः"** इस सूत्रके साथ मिलता जुलता है; परन्तु इस सूत्रमें **'तदादीनि'** पदके द्वारा 'तैजस और कार्मण नामके दो शरीरोंको आदि लेकर' ऐसा जो कथन किया गया है और उसके द्वारा एक शरीर अलग नहीं होता ऐसा जो नियम किया गया है वह स्पष्ट विधान इस सूत्रसे उपलब्ध नहीं होता।

आहारकं प्रमत्त[संयत]स्यैव ॥११॥

'आहारक प्रमत्तसंयतके ही होता है।'

आहारक शरीरके लिये यह नियम है कि वह प्रमत्तसंयत नामके छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ही होता है—अन्यके नहीं। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें इसी आशयका सूत्र नं०४९ पर है। उसमें आहारक शरीरके शुभ, विशुद्ध, अव्याघाति ऐसे तीन विशेषण दिये हैं। मूल बात आहारक शरीरके स्वामितत्वनिर्देशकी दोनोंमें एक ही है। श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें **'प्रमत्तसंयतस्यैव'** के स्थान पर **'चतुर्दशपूर्वधरस्यैव'** पाठ है, और इसलिये वे लोग चौदह पूर्वधारी (श्रुतकेवली) मुनिके ही आहारक शरीरका होना बतलाते हैं।

तीर्थेश-देव-नारक-भोगभुवोऽखंडायुषः†॥१२॥

† अखंडायुषः।

'तीर्थंकर, देव, नारकी और भोगभूमिया अखंड आयु वाले होते है।'

अकालमरणके द्वारा बद्ध आयुका बीचमें खण्डित न होना 'अखण्डायु' कहलाता है। तीर्थंकरों आदिका अकालमरण नहीं होता—बाह्य निमित्तोंको पाकर उनका आयु छिदता-भिदता अथवा परिवर्तनीय नहीं होता—वे कालक्रमसे अपनी पूरी ही बद्धायुका भोग करते हैं। दूसरे मनुष्य-तिर्यंचोंके अखण्डायु होनेका नियम नहीं—वे अखण्डायु हो भी सकते हैं और नहीं भी। यह सूत्र उमास्वातिके **औपपादिकचरमोत्तमदेहा‡ऽसंख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः'** इस ५३वें सूत्रकी अपेक्षा बहुत कुछ सरल स्पष्ट तथा अल्पाक्षरी है, इसमें उक्त सूत्र-जैसी जटिलता नहीं है।

इति श्रीप्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे द्वितीयोध्यायः ॥ २ ॥

'इस प्रकार श्री प्रभाचंद्र-विरचित तत्वार्थसूत्रमें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

तीसरा अध्याय

रत्नप्रभाद्याः सप्तभूमयः ॥१॥

'रत्नप्रभा आदि सात भूमियां हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा इन छह भूमियोंका संग्रह किया गया है; क्योंकि आगममें रत्नप्रभाको आदि लेकर ये ही सब सात नरक भूमियां वर्णित हैं। यह सूत्र उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय अध्यायके प्रथम सूत्रके मूल आशयके साथ मिलता-जुलता है। उसमें **'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः'** और **'अधोऽधः'** पदों के द्वारा इन नरकभूमियोंके सम्बन्धमें कुछ विशिष्ट एवं स्पष्ट कथन और भी किया है।

तासु नारकाः सपंचदुःखाः ॥ २ ॥

'उन सातों भूमियोंमें नारकी जीव रहते हैं और वे पंच प्रकारके दुःखोंसे युक्त होते हैं।

नारकी जीव स्वसंक्लेशपरिणामज, क्षेत्रस्वभावज, परस्परोदीरित और असुरोदीरित आदि अनेक प्रकारके दुःखोंसे निरन्तर पीडित रहते हैं। यहाँ उन सब दुःखों को पांच भेदोंमें सीमित किया गया है, जिनके स्पष्ट नाम नहीं मालूम हो सके। उमास्वातिके प्रायः २ से ५ तकके सूत्रोंका आशय इसमें संनिहित जान पड़ता है।

जम्बूद्वीपलवणोदादयोऽसंख्येयद्वीपोदधयः ॥३॥

'जम्बूद्वीप और लवणोदधिको आदि लेकर असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।'

यह सूत्र और उमास्वातिका **"जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः'** यह सूत्र नं० ७ दोनों एक ही आशयको लिये हुए हैं। एकमें द्वीप-समुद्रोंके **'शुभनामानः'** विशेषण है तो दूसरेमें **'असंख्येय'** विशेषण है।

तन्मध्ये लक्षयोजनप्रमः सचूलिको मेरुः ॥ ४ ॥

'उन द्वीप-समुद्रोंके मध्यमें लाख योजन प्रमाण वाला चूलिका सहित मेरु (पर्वत) है।'

उमास्वातिने **'तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो'** इत्यादि सूत्रके द्वारा मेरुपर्वतको नाभिकी तरह मध्यस्थित बतलाते हुये उसका कोई परिमाण न देकर जम्बूद्वीपको लक्ष योजन-प्रमाण विस्तार वाला बतलाया है, जब कि

---

‡ श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें **'औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषा'** ऐसा पाठ है जिसके द्वारा सभी चरम शरीरी तथा उत्तम पुरुषोंको अखण्डायु बतलाया है। उसमें भी यह द्वितीय अध्यायका अन्तिम सूत्र है परन्तु इसका नम्बर वहाँ ५२ है।

यहाँ जम्बू द्वीपका कोई परिमाण न देकर मेरुका ही परिमाण दिया है। जम्बूद्वीप और मेरुपर्वत दोनों ही एक एक लाख योजनके हैं।

हिमवत्प्रमुखाः षट्कुलनगाः ॥ ५ ॥

'हिमवान्को आदि लेकर षट् कुलाचल हैं।'

यहां छहकी संख्याका निर्देश करनेसे 'प्रमुख' शब्दके द्वारा महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी शिखरी इन पांच कुलाचलोंका संग्रह किया गया है, क्योंकि आगममें हिमवान्-सहित छह पर्वतोंका वर्णन है जो जम्बूद्वीपादिकमें स्थित हैं। उमास्वातिने ११ वें सूत्रमें उन सबका नाम-सहित संग्रह किया है।

तेषु पद्मादयो ह्रदाः ॥ ६ ॥

'उन कुलाचलों पर 'पद्म' आदि द्रह हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे महापद्म, तिगिंछ, केसरी महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके पांच द्रहोंका संग्रह किया गया है, जो शेष महाहिमवान् आदि कुलाचलों पर स्थित है। और जिनका उमास्वातिने अपने १४ वें **'पद्ममहापद्म'** आदि सूत्रमें उल्लेख किया है।

तन्मध्ये श्र्यादयो देव्यः ॥ ७ ॥

'उन द्रहोंके मध्यमें श्री आदि देवियां रहती हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे आगम-वर्णित ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी नामकी पांच देवियोंका संग्रह किया गया है, जिन्हें उमास्वातिने अपने १९ वें सूत्रमें द्रह स्थित कमलोंमें निवास करने वाली बतलाया है।

तेभ्योऽ गंगादयश्चतुर्दशमहानद्यः ॥ ८ ॥

'उन (द्रहों) से गंगादिक १४ महा नदियां निकलती हैं।

यहां १४ की संख्याके निर्देशके साथ 'आदि' शब्दसे आगमवर्णित सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा, इन १३ नदियोंका संग्रह किया गया है। उमास्वातिने अपने **'गंगासिंधु'** आदि सूत्र नं० २०† में इन सबका नामोल्लेख-पूर्वक संग्रह किया है। इसीसे वह सूत्र बड़ा हो गया है।

भरतादीनि वर्षाणि ॥ ९ ॥

'भरत आदि क्षेत्र हैं।'

यहां 'आदि' शब्दसे हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नामके छह क्षेत्रोंका संग्रह किया गया है। षट् कुलाचलोंसे विभाजित होनेके कारण जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी संख्या सात होती है। यह सूत्र और उमास्वातिका १० वाँ (**'भरतहैमवत हरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि'**) सूत्र एक ही आशयके हैं।

त्रिविधा भोगभूमयः ॥१०॥

'भोग भूमियां तीन प्रकारकी होती हैं।'

यहाँ जघन्य, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन प्रकार की भोगभूमियोंका निर्देश है। हैमवत-हैरण्यवत क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमि, हरि-रम्यकक्षेत्रोंमें मध्यमभोगभूमि और विदेहक्षेत्र-स्थित देवकुरु-उत्तरकुरुमें उत्तमकर्म भूमिकी व्यवस्था है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें यद्यपि इस प्रकारका कोई स्वतन्त्र सूत्र नहीं है परन्तु उसके **'एकद्वित्रिपल्योपम'** आदि सूत्र नं० १९ और **'तथोक्ताः'** नामके सूत्र नं० २०* में यह सब आशय संनिहित है।

भरतैरावतेषु षट्कालाः ॥११॥

'भरत और ऐरावत नामके क्षेत्रोंमें छह काल वर्तते हैं।'

---

* तस्माद्।

† श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें यह सूत्र ही नहीं है।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें ये दोनों ही सूत्र नहीं हैं।

इस सूत्रका प्रायः वही आशय है जो उमास्वातिके **'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौषट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्'** इस सूत्र नं० २७† का है।

विदेहेषु सन्ततश्चतुर्थः ॥१२॥

'विदेहक्षेत्रोंमें सदा चौथा काल वर्तता है।

इस आशयका कोई सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है। सर्वार्थसिद्धिकारने **'विदेहेषु संख्येयकालाः'** सूत्र* की व्याख्या करते हुए **'तत्र कालः सुषमदुःषमान्तोपमः सदाऽवस्थितः** इस वाक्यके द्वारा वहाँ सदा चतुर्थ कालके होनेको सूचित किया है।

आर्या म्लेच्छाश्च नरः ॥१३॥

'मनुष्य आर्य और म्लेच्छ होते हैं।

यह सूत्र और उमास्वातिका **'आर्या म्लेच्छाश्च'** सूत्र (नं० ३६) एक ही आशयके हैं। इसमें **'नरः'** पद **'नृ'** शब्दका प्रथमाका बहुवचनान्तपद है, जो यहाँ अधिक नहीं, किन्तु कथन-क्रमको देखते हुए आवश्यक जान पड़ता है।

त्रिषष्ठि[1]शलाकापुरुषाः ॥१४॥

एकादशरुद्राः ॥१५॥

नवनारदाः ॥१६॥

चतुर्विंशति कामदेवाः ॥१७॥

'त्रेसठ शलाका पुरुष होते हैं।'

'ग्यारह रुद्र होते हैं।'

'नव नारद होते हैं।'

'चौबीस कामदेव होते हैं।'

इन चारों सूत्रोंके आशयका का कोई भी सूत्र उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें नहीं है।

मनुष्यतिरश्चामुत्कृष्ट-जघन्यायुषी त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते[2]† ॥१८॥

'मनुष्य और तिर्यंचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी और जघन्य आयु अन्तर्मुहुर्तकी होती है।

उमास्वातिके **"नृस्थितिपरापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते"** और **"तिर्यग्योनिजानां च"** इन दो सूत्रों (३८, ३९) में जो बात कही गई है वही यहां इस एक सूत्रमें वर्णित है—अक्षर भी अधिक नहीं हैं।

इति श्रीवृहत्प्रभाचन्द्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे तृतीयोध्यायः ॥३॥

'इस प्रकार श्रीवृहत्प्रभाचंद्र-विरचित तत्त्वार्थसूत्रमें तीसरा अध्याय समाप्त हुआ।'

चौथा अध्याय

दशाष्टपंचमभेदभावन-व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥१॥

'भवनवासियों, व्यन्तरों और ज्योतिषियोंके क्रमशः दश, आठ और पाँच भेद होते हैं।

भवनवासी आदि देवोंकी यह भेद-गणना उमास्वातिके **"दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः"** सूत्र (नं० ३) में पाई जाती है।

वैमानिका द्विविधाः[1]कल्पजकल्पातीत[2]भेदात् ॥२॥

'वैमानिक (देव) कल्पज और कल्पातीतके भेदसे दो प्रकारके होते हैं'।

इस सूत्र-विषयके लिये उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रमें

† श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें यह सूत्र भी नहीं है।

* यह सूत्र भी श्वेताम्बरीय सूत्र पाठमें नहीं है।

‡ सलाका।

‡ मुहूर्तो।

१ धा। २ ता

'वैमानिकाः' और 'कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च' ऐसे दो सूत्र पाये जाते हैं।

सौधर्मादयः षोडशकल्पाः ॥३॥

'सौधर्म आदि सोलह कल्प हैं।'

इस सूत्रमें कल्पोंकी संख्या १६ निर्दिष्ट करनेसे 'आदि' शब्दके द्वारा ईशान आदि उन १५ स्वर्गोंका संग्रह किया गया है जिनके नाम उमास्वातिके दिगम्बर पाठानुसार १६ वें सूत्रमें दिये हैं।

ब्रह्मालयाः लौकांतिकाः‡ ॥४॥

'लौकान्तिक (देव) ब्रह्मकल्पके निवासी होते हैं।'

यह सूत्र और उमास्वातिका 'ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः' सूत्र प्रायः एक ही है।

ग्रैवेयकाद्या अकल्पाः ॥५॥

'ग्रैवयेक आदि अकल्प हैं।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे विजय, वैजयत्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामके उन आगमोदित विमानोंका संग्रह किया गया है जिनका उमास्वातिके भी उक्त १६ वें सूत्रमें उल्लेख है। उमास्वातिने भी 'प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः' इस सूत्रके द्वारा इन्हें 'अकल्प' सूचित किया है।

सामान्यतो देवनारकाणामुत्कृष्टेतरस्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागराऽयुताब्दाः † ॥ ६ ॥

'सामान्यतया देवनारकोंकी उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर और जघन्य स्थिति १० हज़ार वर्षकी है।'

‡ लो।

† सागरप्रयुताब्दाः, यह पाठ इसलिये ठीक नहीं है कि 'प्रयुत' शब्द १० लाखका वाचक होता है, उतनी जघन्य स्थितिका होना सिद्धान्तके विरुद्ध है। 'अयुत' का अर्थ १० हज़ार होता है, इसलिये उसीका प्रयोग ठीक जान पड़ता है।

उमास्वातिने 'दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्' इत्यादि अनेक सूत्रोंमें इसी आशयको वर्णित किया है। इस सूत्रका 'सामान्यतया' पद खास तौरसे ध्यान देने योग्य है, और उससे विशेषावस्थामें किसी अपवादके होनेकी भी सूचना मिलती है।

इति श्रीवृहत्प्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे चतुर्थोध्यायः ॥४॥

'इस प्रकार श्री वृहप्रभाचंद्रविरचित तत्त्वार्थसूत्रमें चौथा अध्याय पूर्ण हुआ।'

पांचवाँ अध्याय

पंचास्तिकायाः॥ १ ॥

'पाँच अस्तिकाय हैं।'

यहाँ अस्तिकायके लिये पाँचकी संख्याका निर्देश करनेसे आगमकथित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसे पांच द्रव्योंका संग्रह किया गया है। इनका अस्तित्व और बहुप्रदेशत्व गुणोंके कारण 'अस्तिकाय' संज्ञा है उमास्वातिने इनका संग्रह 'अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्गलाः' और 'जीवाश्च' इन सूत्रों (नं० १, ३) में किया है।

नित्यावस्थिताः ॥ २ ॥

'(पांचों अस्तिकाय) नित्य हैं और अवस्थित हैं।'

ये पाँचों द्रव्य अपने सामान्य-विशेषरूपको कभी छोड़ते नहीं, इसलिये नित्य हैं और अस्तिकायरूपसे अपनी पाँचकी संख्याका भी कभी त्याग नहीं करते—चार या छह आदि रूप नहीं होते—इसलिये अवस्थित हैं। उमास्वातिका 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्र इस सूत्रके साथ मिलता जुलता है।

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ३ ॥

'पुद्गल रूपी होते हैं।'

पंचास्तिकायरूप द्रव्योंमेंसे पुद्गलोंको रूपी बतलानेका फलितार्थ यह होता है कि जीव, धर्म, अधर्म, और आकाश, ये चार द्रव्य अरूपी हैं—स्पर्श, रस, गंध, और वर्णसे रहित अमूर्तिक हैं। यह सूत्र और उमास्वातिका चौथा सूत्र अक्षरसे एक ही हैं।

धर्मादेरक्रियत्वं‡ ॥४॥

'धर्म आदिके अक्रियत्व है।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे अधर्म और आकाशका संग्रह किया गया है, क्योंकि पंचास्तिकायमें धर्म द्रव्यके बाद ये ही आते हैं। ये तीनों द्रव्य क्रियाहीन हैं। जब ये क्रियाहीन हैं तब शेष जीव और पुद्गल द्रव्यक्रियावान् हैं, यह सूत्र-सामर्थ्यसे स्वयं अभिव्यक्त हो जाता है। उमास्वातिके **'निष्क्रियाणि च'** सूत्रका और इसका एक ही आशय है।

जीवादेर्लोकाकाशेऽवगाहः ॥५॥

'जीवादिकका लोकाकाशमें अवगाह है।'

यहाँ 'आदि' शब्दसे पुद्गल, धर्म, और अधर्म का संग्रह किया गया है—चारों द्रव्योंका आधार लोकाकाश है। आकाश स्वप्रतिष्ठित—अपने ही आधार पर स्थित—है इसलिये उसका अन्य आधार नहीं है। यह सूत्र और उमास्वतिका १२ वाँ **'लोकाकाशेऽवग्रहः'** सूत्र प्रायः एक ही हैं।

सत्त्वं द्रव्यलक्षणं ॥६॥

उत्पादादियुक्तं सत् ॥७॥

'द्रव्यका लक्षण सत्व (सत्ताभाव) है।'

'उत्पाद आदि (व्यय, ध्रौव्य) से जो युक्त है वह सत् है।'

ये सूत्र उमास्वातिके **'सद्द्रव्यलक्षणं'** और **'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'** इन सूत्रोंके साथ पूर्ण सामंजस्य रखते हैं और एक ही आशयको लिये हुए हैं।

सहक्रमभाविगुणपर्ययवद्द्रव्यं ॥८॥

'द्रव्य सहभावि गुणों तथा क्रमभावि-पर्यायों वाला होता है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'गुणपर्ययवद्द्रव्यं'** सूत्रसे कुछ विशेषताको लिये हुए है। इसमें गुणका स्वरूप सहभावी और पर्यायका क्रमभावीभी बतला दिया है।

कालश्च ॥९॥

'काल भी द्रव्य है।'

यह सूत्र और उमास्वातिका ३९ वाँ सूत्र अक्षरसे एक हैं *।

अनंतसमयश्च ॥१०॥

'(कालद्रव्य) अनन्त समय (पर्याय) वाला है।'

यह सूत्र उमास्वातिके **'सोऽनन्तसमयः'** सूत्रके साथ बहुत मिलता जुलता है और एक ही आशयको लिये हुए है।

गुणानामगुणत्वं ॥११॥

'गुणोंके गुणत्व नहीं होता।'

गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। गुणोंमें भी यदि अन्य गुणोंकी कल्पना की जाय तो वे गुणी, गुणवान् एवं द्रव्य हो जाते हैं, फिर द्रव्य और गुणमें कोई विशेषता नहीं रहती और अनवस्था भी आती है। यह सूत्र उमास्वातिके **'द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः'** इस सूत्र (नं० ४१, श्वे० ४०) के समकक्ष है। **'द्रव्याश्रयाः'** पदका आशय इससे पूर्व ८ वें सूत्रमें **'सहभावी'** विशेषणके द्वारा व्यक्त कर किया गया है।

इति श्रीवृहत्प्रभाचंद्रविरचिते तत्त्वार्थसूत्रे पंचमोध्यायः ॥५॥

'इस प्रकार श्री वृहत्प्रभाचन्द्र-विरचित तत्वार्थसूत्रमें पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।'

(आगामी किरणमें समाप्त)

‡ क्र।

* श्वेताम्बरीय सूत्रपाठमें इसके अनन्तर 'द्रव्येके' जुड़ा हुआ है और इसे ३८ नम्बर पर दिया है।

मोक्ष-सुख—[श्रीमद् रायचन्द्रजी]

इस पृथ्वी मंडल पर कुछ ऐसी वस्तुयें और मन की इच्छायें हैं जिन्हें कुछ अंशमें जानने पर भी कहा नहीं जा सकता। फिर भी ये वस्तुयें कुछ संपूर्ण शाश्वत अथवा अनंत रहस्यपूर्ण नहीं है। जब ऐसी वस्तुका वर्णन नहीं हो सकता तो फिर अनंत सुखमय मोक्षकी तो उपमा कहाँसे मिल सकती है? भगवान्से गौतमस्वामीने मोक्षके अनंत-सुखके विषयमें प्रश्न किया तो भगवान्ने उत्तरमें कहा—गौतम! इस अनंत सुखको जानता हूँ परन्तु जिससे उसकी समता दी जा सके, ऐसी यहाँ कोई उपमा नहीं। जगत्में इस सुखके तुल्य कोई भी वस्तु अथवा सुख नहीं ऐसा कहकर उन्होंने निम्नरूपसे एक भीलका दृष्टान्त दिया था।

किसी जंगलमें एक भोलाभाला भील अपने बाल बच्चों सहित रहता था। शहर वगैरहकी समृद्धिकी उपाधिका उसे लेश भर भी भान न था। एक दिन कोई राजा अश्वक्रीड़ाके लिये फिरता फिरता वहाँ आ निकला। उसे बहुत प्यास लगी थी। राजाने इशारेसे भीलसे पानी माँगा। भीलने पानी दिया। शीतल जल पीकर राजा संतुष्ट हुआ। अपनेको भीलकी तरफ़से मिले हुए अमूल्य जल-दानका बदला चुकानेके लिये भीलको समझाकर राजाने उसे साथ लिया। नगरमें आनेके पश्चात् राजाने भीलको उसकी ज़िन्दगीमें न देखी हुई वस्तुओंमें रक्खा। सुन्दर महल, पासमें अनेक अनुचर, मनोहर छत्र पलंग, स्वादिष्ट भोजन, मंद मंद पवन और सुगन्धी विलेपनसे उसे आनन्द आनन्द कर दिया। वह विविध प्रकारके हीरा, मणिक, मौक्तिक, मणिरत्न और रंग विरंगी अमूल्य चीज़ें निरन्तर उस भीलको देखनेके लिये भेजा करता था, उसे बाग़-बग़ीचों में घूमने फिरनेके लिये भेजा करता था। इस तरह राजा उसे सुख दिया करता था। एक रातको जब सब सोये हुए थे, उस समय भीलको अपने बाल-बच्चोंकी याद आई, इसलिये वह वहाँसे कुछ लिये करे बिना एकाएक निकल पड़ा, और जाकर अपने कुटुम्बियोंसे मिला। उन सबोंने मिलकर पूछा कि तू कहाँ था? भीलने कहा, बहुत सुखमें। वहाँ मैंने बहुत प्रशंसा करने लायक वस्तुएँ देखीं।

कुटुम्बी—परन्तु वे कैसी थीं, यह तो हमें कह।

भील—क्या कहूँ, यहाँ वैसी एक भी वस्तु नहीं।

कुटुम्बी—यह कैसे हो सकता है? ये शंख, सीप, कौड़े कैसे सुन्दर पड़े हैं! क्या वहाँ कोई ऐसी देखने लायक वस्तु थी?

भील—नहीं भाई, ऐसी चीज़ तो यहाँ एक भी नहीं। उनके सौवें अथवा हज़ारवें भाग तककी भी मनोहर चीज़ यहाँ कोई नहीं।

कुटुम्बी—तो तू चुपचाप बैठा रह। तुझे भ्रमणा हुई है। भला इससे अच्छा क्या होगा?

हे गौतम! जैसे यह भील राज-वैभवके सुख भोगकर आया था, और उन्हें जानता भी था, फिर भी उपमाके योग्य वस्तु न मिलनेसे वह कुछ नहीं कह

सकता था, इसी तरह अनुपमेय मोक्षको, सच्चिदानन्द स्वरूपमय निर्विकारी मोक्षके सुखके असंख्यातवें भागको भी योग्य उपमाके न मिलनेसे मैं तुझे कह नहीं सकता।

मोक्षके स्वरूपमें शंका करनेवाले तो कुतर्कवादी हैं। इनको क्षणिक सुखके विचारके कारण सत्सुखका विचार कहाँसे आ सकता है? कोई आत्मिक ज्ञान हीन ऐसा भी कहते है कि संसारसे कोई विशेष सुखका साधन मोक्षमें नहीं रहता इसलिये इसमें अनन्त अव्याबाध सुख कह दिया है, इनका यह कथन विवेकयुक्त नहीं। निद्रा प्रत्येक मानवीको प्रिय है, परन्तु उसमें वे कुछ जान अथवा देख नहीं सकते; और यदि कुछ जाननेमें आता भी है, तो वह केवल मिथ्या स्वप्नोपाधि आती है। जिसका कुछ असर हो ऐसी स्वप्न रहित निद्रा जिसमें सूक्ष्म स्थूल सब कुछ जान और देख सकते हों, और निरुपाधिसे शान्ति नींद ली जा सकती हो, तो भी कोई उसका वर्णन कैसे कर सकता है, और कोई इसकी उपमा भी क्या दे? यह तो स्थूल दृष्टान्त है, परन्तु बालविवेकी इसके ऊपरसे कुछ विचार कर सकें इसलिये यह कहा है।

भीलका दृष्टान्त समझानेके लिये भाषा-भेदके फेर फारसे तुम्हें कहा है।

वीर-श्रद्धाञ्जलि

[ले०-श्रीरघुवीरशरण अग्रवाल, एम.ए. 'घनश्याम']

(१)

लिच्छिवी वंशके रत्न! अमर है कीर्ति तुम्हारी।
भारत-नभमें चमक रही है ज्योति तुम्हारी॥
धर्म-कर्म-उद्धार-हेतु अवतरित हुए थे।
धर्म अहिंसा प्रसर-हेतु सब चरित किये थे॥

(२)

यदपि जन्म को वर्ष अनेकों बीत गये हैं।
फिर भी अद्भुत कार्य तुम्हारे दीख रहे हैं॥
धन्य त्याग है राज-सुखों का यश-वैभव का।
महा पुरुष! था तुम्हें ध्यान नित निज गौरव का।

(३)

आत्म-सदृश हाँ, सभी जीव तुमने बतलाये।
बलि-वधयुत सब यज्ञ पापकी खान जताये॥
हिंसाका कर नाश, दयाके भाव बढ़ाये।
परउपकृतिके काम धर्मके रूप गिनाये॥

(४)

जित-इन्द्रिय थे, महावीर! सच्चे व्रतधारी।
जीवोंके कल्याण-हेतु थी देह तुम्हारी॥
राज सुखोंको छोड़, धर्मकी ध्वजा उठाई।
धर्ममयी भारत सुभूमि निज हाथ बनाई॥

(५)

वह ही सच्चा वीर, इन्द्रियाँ जीत सके जो।
परम इष्टसे इष्ट वस्तुको त्याग सके जो॥
धन, दारा औ पुत्र सभी का मोह तजे जो।
सत्य-प्रेमसे युक्त हुआ निज-आत्म भजे जो॥

(६)

करो नित्य कल्याण सभी विधि भक्तजनों का।
भू-तल पर हो चहूँ ओर विस्तार गुणों का॥
श्रद्धाञ्जलि यह प्रेमपूर्ण अर्पित करता हूँ।
प्रभुवरसे बहुबार विनय मनसे करता हूँ॥

प्राकृत पंचसंग्रहका रचना-काल

[ले०—प्रो० हीरालाल जैन एम. ए.]

प्राचीन जैन साहित्यका बहु भाग अभी भी अंधकारमें है। हर्षकी बात है कि अब धीरे धीरे अनेक प्राचीन ग्रंथ प्रकाशमें आ रहे हैं। अभी अनेकान्त वर्ष ३ कि० ३ के पृ० २५६ पर पं० परमानन्दजी शास्त्रीने अब तक अज्ञात एक 'अति प्राचीन प्राकृत पंचसंग्रह' का परिचय प्रकाशित किया है। इसकी जो प्रति लेखकको उपलब्ध हुई वह सं० १५२७ में टंबक नगरमें माघ बदी ३ गुरुवारको लिखी गई थी और उसकी पत्र संख्या ६२ है। ग्रन्थमें प्रशस्ति आदि कुछ नहीं है अतः उसपरसे उसके कर्ता व समयका कोई ज्ञान नहीं होता। किन्तु इस ग्रंथमें बहुत सी ऐसी गाथाएँ पाई गई हैं जो धवलामें भी उद्धृत पाई जाती हैं। इसपरसे उक्त परिचयके लेखकने यह निर्णय किया है कि "आचार्य वीरसेनके सामने 'पंच संग्रह' जरूर था। इसीसे उन्होंने उसकी उक्त गाथाओंको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है। आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीका शक सं० ७३८ (विक्रम सं० ८७३) में पूर्ण की है। अतः यह निश्चित है कि पंचसंग्रह इससे पहिलेका बना हुआ है।" यही नहीं, पंचसंग्रहमें एक गाथा ऐसी भी है जो आचार्य कुन्दकुन्दके 'चरित्र प्राभृत' में भी उपलब्ध होती है। इससे लेखकने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'बहुत सम्भव है आचार्य कुन्दकुन्दने पंच संग्रहसे उद्धृत की हो और यह भी सम्भव है कि चरित्र प्राभृतसे पंचसंग्रह कारने उठाकर रक्खी हो। परन्तु बिना किसी विशेष प्रमाणके अभी इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, तो भी इससे इतना तो ध्वनित है कि पंचसंग्रहकी रचना कुन्दकुन्दसे पहिले या कुछ थोड़े समय बाद ही हुई होगी"। पंचसंग्रहकी एक गाथा सर्वार्थसिद्धि वृत्तिमें भी पाई जाती है जिस परसे लेखकके मतसे "स्पष्ट है कि पंचसंग्रह पूज्यपादसे पहिलेका बना हुआ है"।

पंचसंग्रहमें तीन गाथाएँ ऐसी भी हैं जो जयधवलाके मूलाधार गुणधर आचार्य कृत कषाय प्राभृतमें भी पाई जाती हैं किन्तु यहाँ लेखकने यह अनुमान किया है कि " उक्त तीनों गाथाएँ कषाय प्राभृतकी ही हैं और उसी परसे पंचसंग्रहमें उठाकर रक्खी गई हैं।"

हमारे सामने उपर्युक्त पं० परमानन्दजीके लेखके अतिरिक्त पंचसंग्रहकी प्रति आदि कोई सामग्री ऐसी नहीं है जिस परसे हम उक्त ग्रंथके निर्माण-कालका कोई अनुमान लगा सकें। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों परसे लेखकने जो उस ग्रंथको वीरसेन व पूज्यपाद देवनन्दीसे पूर्व कालीन रचना सिद्ध की है वह युक्ति संगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि यह अनिवार्य नहीं कि वीरसेन व पूज्यपादने इसी संग्रह परसे वे गाथाएँ उद्धृत की हों। जैसा कुन्दकुन्दकी रचनाओंमें उसकी एक गाथा पाये जानेसे लेखकने केवल यह अनुमान किया है कि दोनोंमेंसे कोई भी आगे पीछे की हो सकती है, वैसा वीरसेन व पूज्यपादके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। पंचसंग्रहको कुन्दकुन्दसे

पीछेकी मानने पर उसे कुछ बादका ही क्यों माना जाय सो भी समझमें नहीं आता। चारित्र-पाहुड़-से उद्धरण तो तबसे लगाकर अबतक कभी भी किया जा सकता हैं।

यदि कहा जाय कि वीरसेन व पूज्यपादने अपनी टीकाओंमें वे गाथाएँ स्पष्टतः उद्धृत की हैं, किन्तु पंचसंग्रहमें वे बिना ऐसे किसी संकेतके आई हैं इस कारण वे पंचसंग्रहकारकी मूल रचना ही समझी जानी चाहियें तो यह भी युक्ति संगत नहीं होगा। गोम्मटसारमें भी वे सैकड़ों गाथाएँ बिना किसी उद्धरणकी सूचनाके आई हैं जो धवलामें 'उक्तं च' रूपसे पाई जाती हैं और यदि हमें गोम्मटसारके कर्ताके समयका ज्ञान नहीं होता तो संभवतः उक्त तर्क सरणिसे उसके विषय-में भी यही कहा जा सकता था कि उसी परसे धवलाकारने उन्हें उद्धृत किया है। अतः गोम्मट-सार पहिलेकी रचना है। किन्तु हम प्रामाणिकता-से जानते हैं कि गोम्मटसारमें ही वे धवलासे संग्रह की गई हैं। इसी प्रकार यह असम्भव नहीं है कि पचसंग्रह कारने ही उन्हें गुणधर आचार्य, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद वीरसेन आदि आचार्योंकी रचना परसे ही संग्रह किया हो। यह भी होसकता है कि पूज्यपाद व वीरसेन तथा पंचसंग्रहकारने उन्हें किसी अन्य ही ग्रंथसे उद्धृत किया हो। ऐसी अवस्थामें अभी केवल समान गाथाओंके पाये जानेसे पंचसंग्रहको वीरसेन व पूज्यपादसे निश्च-यतः पूर्ववर्ती कदापि नहीं कह सकते। संग्रहकारके समय-निर्णयके लिये कोई अन्य ही प्रबल व स्वतंत्र प्रमाणोंकी आवश्यकता है। विशेषकर जब कि ग्रंथकार स्वयं ही अपनी रचनाको 'संग्रह' कह रहे हैं तब सम्भव तो यही जान पड़ता है कि वह बहुतायतसे अन्य ग्रंथों परसे संग्रह की गई है। ये 'सार' या 'संग्रह' ग्रंथ प्रायः इसी प्रकार तैयार होते हैं। उनमें कर्ताकी निजी पूंजी बहुत कम हुआ करती है। आश्चर्य नहीं जो उक्त पंचसंग्रह धवला से पीछेकी रचना हो। उसका सिद्धान्त-ग्रंथसे कुछ सम्बन्ध होनेके कारण गोम्मटसारके सम-कालीन होनेकी सम्भावना की जा सकतीहै।

प्रश्न

[श्री 'रत्नेश' विशारद]

शून्य विश्व के अन्तस्तल को,
ज्योति-युक्त करता है कौन ?
जग-जीवन-जर्जर-सा होवे,
प्राणदान देता है कौन ?

अन्धकारमय हृदय-पटल में,
वह अनन्त बल लाता कौन ?
इस अस्थिर-मय क्रूर देह की,
चंचलता को हरता कौन ?

साहित्य-सम्मेलनकी परिक्षाओंमें जैन-दर्शन

[ले० पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद]

शिक्षाप्रेमी पाठकोंको मालूम है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयागकी परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयोंमें जैन-दर्शनको भी स्थान दिलानेके लिये गत दो वर्षोंसे मैं बराबर प्रयत्न करता आ रहा हूँ। हर्षका विषय है कि परीक्षा-समितिने अब जैन-दर्शनको भी स्थान देना स्वीकार कर लिया है। इस सम्बन्धमें आये हुए पत्रकी प्रतिलिपि इस प्रकार है :—

प्रिय महोदय !

जैन-दर्शनको प्रथम तथा मध्यमा परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयोंमें स्थान देनेके लिये हमने आपका पत्र परीक्षा समितिके सामने विचारार्थ उपस्थित किया था। समितिने इस संबंधमें निम्नलिखित निश्चय किया है :—

(१) प्रथम परीक्षाके लिये एकऐसी पुस्तक तैयार की जाय जिसमें सार्वभौमिक धर्म अच्छे रूपसे छोटे बच्चों के सामने रखा जाय और जिसमें भारतमें प्रचलित भिन्न भिन्न धर्मोंके विशेष आचार्योंके वाक्यांश उद्धृत हों। पुस्तकके प्रकाशनके संबंधमें यह प्रस्ताव साहित्य समिति के पास भेजा जाय।

(२) मध्यमा परीक्षामें इस विषयकी पुस्तकोंको स्थान देनेके संबंधमें श्री संघवीजीसे पूछा जाय कि वे कौनसी पुस्तक निर्धारित करना चाहते हैं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिये जिसमें विवादास्पद विषय न हों।

(३) उत्तमा परीक्षाके दर्शन-विषयक चौथे प्रश्न-पत्रमें जैनदर्शनका समावेश किया जाय।

इसके लिये पुस्तकोंकी सूची मेरे पास भेजिये।

भवदीय—

दयाशंकर दुबे, परीक्षा-मंत्री।

समितिके उपर्युक्त प्रस्तावोंसे यही ज्ञात होता है कि प्रथमा परीक्षामें तो जैन-दर्शन नहीं रक्खा जायगा। मध्यमाके वैकल्पिक विषयोंमें जैन-दर्शन रह सकेगा। इसी प्रकार उत्तमामें भी दर्शन विषयके चौथे प्रश्नपत्रमें जैन दर्शनको स्थान मिल सकेगा।

प्रस्तावानुसार मैंने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया है। उसकी प्रतिलिपि इसी निवेदनके अन्तमें दे रहा हूँ। मैंने इस कोर्सकी प्रतिलिपि पं० सुखलालजी, श्री जैनेन्द्रकुमारजी (दिल्ली), पं० नाथूरामजी प्रेमी, पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल आदि अनेक विद्वानोंकी सेवामें भी भेजी है। अब सभी शिक्षा-प्रेमी सज्जनों एवं अन्य पाठक महानुभावोंकी सेवामें इसे समाचार पत्रों द्वारा पेश कर रहा हूँ। आशाहै विद्वज्जन इस पर अपनी बहुमूल्य सम्मति एवं संशोधन भेजनेकी कृपा करेंगे। जिससे कि मैं इसे अंतिम रूप देकर प्रामाणिक रूपसे सम्मेलनके अधिकारियोंको भेज सकूँ।

रजिस्ट्रार परीक्षा विभागके पत्र नं० १४०२२ द्वारा ज्ञात हुआ है कि जैन-दर्शनका समावेश संवत १९९८ से हो सकेगा। इसी प्रकार पत्र नं० १३३०० द्वारा

मुझे सूचित किया गया है कि पाठ्यक्रममें निर्धारित पुस्तकोंकी तीन तीन प्रतियाँ भी सम्मेलन-कार्यालयमें भिजवाइयेगा। क्योंकि इन पुस्तकोंकी जाँच पड़ताल परीक्षा-समिति करेगी। बिना पुस्तकोंके देखे परीक्षा-समिति पाठ्यक्रममें स्थान नहीं दे सकेगी। अतः जिन प्रकाशकोंकी पुस्तकें पाठ्यक्रममें निर्धारित हों उन्हें सूचना पाकर उनकी तीन तीन प्रतियाँ शीघ्र भेजने की कृपा करनी चाहिये। पुस्तकें मध्यमा और दर्शन-रत्न चतुर्थ प्रश्न-पत्रकी भेजना होंगी।

'पाठ्यक्रम सरल और महत्वपूर्ण हो,' यही एक दृष्टिकोण रक्खा गया है। क्योंकि मध्यमामें जैन-दर्शनके साथ अन्य दो विषय और भी रहेंगे। अतः सरल होने पर ही जैन छात्र एवं अन्य जैनेतर छात्र इस ओर आकर्षित हो सकेंगे। अन्यथा जटिल होनेकी दशामें यह प्रयास और ध्येय व्यर्थ ही सिद्ध होगा। यह स्पष्ट ही है कि यदि जैन दर्शनका पाठ्यक्रम जटिल होगा तो छात्र इसे न चुन कर किसी अन्य वैकल्पिक विषय का चुनाव कर लेंगे। इस लिये सरलता किन्तु महत्ताका ख्याल रख करके ही यह पाठ्यक्रम बनाया गया है। इसी प्रकार इसमें श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों पक्षके ग्रंथोंको स्थान दिया गया है, जिससे कि यह एक पक्षीय न होकर सार्वदेशिक जैन-दर्शनका प्रतिनिधित्व करता है। इससे परस्परमें सांप्रदायिक भावनाओंके स्थान पर एक ही जैनत्वकी भावनाओंका छात्रोंमें प्रसार होगा तथा कटुताके स्थान पर मातृत्व भावना और विशालताका फैलाव होगा।

इस पाठ्यक्रममें जैन दर्शन-सम्मत तत्ववाद, द्रव्यवाद, गुणस्थानवाद, कर्मवाद, अहिंसावाद, रत्नत्रयवाद, प्रमाण-नयवाद, स्याद्वाद आदि आदि मूलभूत सिद्धान्तों का आवश्यक और महत्वपूर्ण विवेचन आगया है। जानने योग्य खास खास आचार्योंके जीवन चरित्रोंका भी इसमें समावेश है। एवं तीनों संप्रदायोंके समाचार पत्रोंका पठन भी आवश्यक माना गया है, इससे परस्परकी स्थिति एवं भावनाओंका ज्ञान भी छात्रोंको हो सकेगा। आशा है कि विद्वान् महानुभाव इस दृष्टिकोण का विचार करते हुए, अपना संशोधन और अपनी बहु मूल्य सम्मति निम्न पते पर १५ मई तक भेजनेकी कृपा करेंगे, जिससे कि मईके अंतिम सप्ताह तक सम्मेलन-कार्यालयमें पाठ्यक्रमकी अन्तिम रूपरेखा भेजी जा सके।

पता—रतनलाल संघवी, पो० छोटी सादड़ी (मेवाड़)
वाया नीमच।

पाठ्य-क्रम मध्यमा परीक्षा

प्रथम प्रश्नपत्र

पाठ्य ग्रंथ—१ कर्म-ग्रंथ १ला भाग भूमिका सहित (गाथाएं कंठस्थ नहीं) पं० सुखलालजी कृत आगरा वाला।

२ जैन-सिद्धान्त प्रवेशिका (प्रथम अध्याय और प्रश्न ३७८ से ३९९ तक छोड़कर) पं० गोपालदासजी बरैया कृत।

सहायक ग्रन्थ—१ श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र (बैरिस्टर चम्पतरायजी कृत) हिन्दी अनुवाद।

२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (श्री अमृतचंद्र स्वामी) हिन्दी अनुवाद—श्री नाथूरामजी प्रेमीवाला।

३ स्याद्वाद और सप्तभंगीका साधारण आवश्यक ज्ञान।

अंकोंका क्रम—पाठ्य ग्रंथ ७० अंक और सहायक ग्रंथ ३० अंक।

द्वितीय प्रश्न पत्र

पाठ्य ग्रंथ—१ तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी (पं० सुखलालजी)

२–द्रव्य संग्रह-हिन्दी (नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती) अनु० पं० पन्नालालजी ।

सहायक ग्रंथ—१ निर्ग्रन्थ प्रवचन (गाथाएँ कंठस्थ नहीं) मुनि श्री चौथमलजी संग्रहीत ।

२—कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, अकलंकदेव, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र आदिका जीवन चरित्र (संक्षिप्त) वीर पाठावलि (कामताप्रसादजी कृत) के आधारसे अथवा अन्य आधारसे ।

३—सिद्धसेन दिवाकर, उमास्वाति, हरिभद्र, हेमचंद्र, यशोविजय आदिका जीवन चरित्र- (अनेकांत वर्ष २ और ३ की फाइलोंके आधारसे)

परीक्षार्थियोंको जैन समाजकी सामयिक स्थितिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये निम्न लिखित पत्र पत्रिकाओंका अध्ययन करते रहना चाहियेः—१ अनेकांत (न्यू देहली) २ जैन मित्र (सूरत) ३ जैन संदेश (आगरा) ४ जैन (भावनगर) ५ जैन प्रकाश (बम्बई) ६ जैन युग (बम्बई)

अंकोंका क्रमः—पाठ्य ग्रंथ ७० अंक और सहायक ग्रंथ तथा पत्र पत्रिकाओंका अध्ययन ३० अंक

उत्तमा परीक्षा

दर्शन-विषयक चतुर्थ प्रश्नपत्र

१ "स्याद्वादमंजरी—हिन्दी–(श्री जगदीशचन्द्रजी संपादित)

२ प्रमाण मीमाँसाकी हिन्दी टिप्पणियाँ (पं० सुखलालजी)

३ आप्तमीमाँसा मूल (श्री समंतभद्राचार्य)

४ अकलंक-ग्रंथत्रयकी प्रस्तावना ।
(पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य)

५ सूत्र कृतांग, हिन्दी (स्थानकवासी कान्फ्रेन्स वाला)

नोट—इस लेखमें जो पाठ्यक्रम दिया है वह अभी बहुत कुछ विचारणीय है-उसमें कितनी ही त्रुटियाँ जान पड़ती हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी शिक्षा शास्त्रियों को उस पर गंभीरताके साथ विचार करना चाहिये, और अपना अपना संशोधन यदि कुछ हो तो उसे शीघ्र ही उपस्थित करना चाहिये । साथ ही पाठ्यक्रम को निर्धारित करते समय परीक्षा समितिके इस प्रस्ताव वाक्य पर खास तौरसे ध्यान रखना चाहिये कि—"पुस्तक ऐसी होनी चाहिये जिसमें विवादास्पद-विषय न हो।" बाकी यह अपील संयोजक महोदयकी बहुत समुचित है कि जिन प्रकाशकोंकी पुस्तकें पठनक्रममें रखनेके लिये परीक्षा समितिको भेजनेकी जरूरत हो उनकी तीन तीन कापियाँ वे सूचना पाते ही भेज देनेकी कृपा करें और इस तरह इस शुभ कार्यमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें ।

—सम्पादक

वीरका जीवन-मार्ग

[ले०—श्री जयभगवान जैन, बी. ए. एल एल. बी. वकील]

जीवनकी विकटता:—

जीवन सुनहरी प्रभातके साथ उठता है, अरुण सूर्यके साथ उभरता है, उसके तेजके साथ खिलखिलाता है, उसकी गतिके साथ दौड़ता-भागता है, उसकी संध्याकी छायाके साथ लम्बा हो जाता है और उसके अस्त होने पर निश्चेष्ट हो सो जाता है।

सुबह होती है शाम होती है,
उम्र यों ही तमाम होती है।

सो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है? काम और अर्थ ही उद्देश है! साँझ-सवेर-वाला ही लोक है!

यदि यों ही श्रम और विश्रामका सिलसिला बना रहता, यदि यों ही काम और अर्थका रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था। जीवन और जगत कभी प्रश्नके विषय न बनते। परन्तु जीवन इतनी सीधी-साधी चीज नहीं है। माना कि इसमें सुस्वप्न हैं, कामनायें हैं, आशायें हैं, पर अत्यन्त रोचक, अत्यन्त प्रेरक हैं। जी चाहता है कि इनके आलोकमें सदा जीवित रहे, परन्तु इन ही के साथ कैसे कैसे दुःस्वप्न हैं, असफलतायें हैं, निराशायें हैं, विषाद है! यह कितने कटु और घिनावने हैं। जी चाहता है कि इनके आलोकसे छुपकर कहीं चला जाये।

कितना खेद है कि जीवनको कामना मिली पर सिद्धि न मिली! उस सिद्धिके लिये यह कितना आतुर है, कितना वेदनासे भरा है। उसके लिये कैसे कैसे आघात-प्रघात सहन करता है! कैसी २ बाधाओं विपदाओंमेंसे गुज़रता है! परन्तु यह सब कुछ होने पर भी सिद्धिका कहीं पता नहीं। यदि भाग्यवश कहीं सिद्धि हाथ भी आई तो वह कितनी दुःखदायी है? वह प्राप्तिकालमें आकुलतासे अनुरञ्जित है, रक्षाकालमें चिन्तासे संयुक्त है और भोगकालमें क्षीणता और शोकसे ग्रस्त है। इसका आदि, मध्य और अन्त तीनों दुःख पूर्ण हैं! यह वास्तवमें सिद्धि नहीं, यह सिद्धिका आभासमात्र है। इस सिद्धिमें सदा अपूर्णता बसती है। यह सब कुछ प्राप्त करने पर भी रङ्क है, रिक्त है, वाँछायुक्त है।

यह ज़िन्दगी दो रंगी है। इसकी सुन्दरतामें कुरूपता बसती है। इसके सुखमें दुःख रहता है। इसकी हँसीमें रोना है। इसके लालित्यमें भयानकता है। इसकी आसक्तिमें अरुचि है। इसके भोगमें रोग है, योगमें वियोग है, विकास में ह्रास है, बहारमें खिजाँ है, यौवनमें जरा है। यहाँ हर फूलमें शूल है, इतना ही नहीं यह समस्त ललाम लीला, यह समस्त उमंगभरा जीवन, यह समस्त साँझ-सवेर वाला लोक मृत्युसे व्याप्त है!

जीवन के मूल प्रश्न:—

यह देख दिल भयसे भर आता है, अनायास शंकायें उठनी शुरू होती हैं। क्या यह ही लोक है जहां कामना का तिरस्कार है, आशाका अनादर है, पुरुषार्थ

की विफलता है ? क्या यह ही जीवन है जहां हजार प्रयत्न करने पर भी सन्तुष्टिका लाभ नहीं, और हज़ार रोक थाम करने पर भी अनिष्ट अनिवार्य है? क्या यह ही उद्देश है कि सुखकी लालसा रखते हुये दुःखी बना रहे, सिद्धि की चाह करते हुये वाञ्छासे जकड़ा रहे, जीवन की भावना भाते हुये मृत्युमें मिल जाये ? क्या इसीके लिये चाह और तृष्णा है ? क्या इसीके लिये उद्यम और पुरुषार्थ है ? क्या इसीके लिये संघर्ष और प्राणाहुति है ?

इसपर एक छोटीसी आवाज़ बोल उठती है, नहीं ! यह मन-चाहा जीवन नहीं, यह तो उस जीवनकी पुकार है, ढूंढ है, तलाश है, उस तक पहुंचनेका उद्यम है, उसे पाने का प्रयोग है। इसीलिये यह जीवन असन्तुष्ट और अशान्त बना हैं; उद्यमी और कर्मशील बना है, अस्थिर और गतिमान बना है।

पुनः शंका आ डटती है। यदि ऐसा ही है तो जीवन अपने पुरुषार्थ में सफल क्यों नहीं होता ? यह पुरुषार्थ करते हुये भी विफल क्यों है ? आशाहत क्यों है ? खेद खिन्न क्यों है ?

इसका कारण पुरुषार्थकी कमी नहीं, बल्कि सद्-लक्ष्य, सद्ज्ञान, सदाचारकी कमी है। जीवनका समस्त पुरुषार्थ भूलभ्रान्तिसे ढका है, अज्ञानसे आच्छादित है, मोहसे ग्रस्त है। इसे पता नहीं कि जिस चीज़की इसमें भावना बसी है वह क्या है, कैसी है, कहाँ है। इसे पता नहीं कि उसे पानेका क्या साधन है। उसे सिद्ध करनेका क्या मार्ग है। यह पुरुषार्थ जीवनको उस ओर नहीं ले जारहा है जिस ओर यह जाना चाहता है। उस चीज़की प्राप्तिमें नहीं लगा है जिसे यह प्राप्त करना चाहता है। यह केवल परम्परागत मार्ग-का अनुयायी बना है, उन्हीं रूढीक पदार्थोंका साधन बना है। जिन्हें सिद्ध करते करते यह इतना अभ्यस्त हो गया है कि वे जीवनके मार्ग, जीवनके उद्देश्य ही बन गये हैं। इसीलिये यह आशायुक्त होते हुए भी आशा-हत है। पुरुषार्थ होते हुए भी विफल है।

इन भूल, अज्ञान और मोहके कारण यद्यपि जीवने अपने वास्तविक जीवनको भुला दिया, उसे बन्दी बना अन्धकूपमें डाल दिया, परन्तु उसने इसे कभी नहीं भुलाया, वह सदा इसके साथ है। वह घनाच्छादित सूर्यके समान फूट २ कर अपना आलोक देता रहता है। वह इसके सुस्वप्नोंमें बस कर, इसकी आशाओंमें बैठकर, इसकी भावनाओंमें भरकर इसके जीवनको सुन्दर और सरस बनाता रहता है। वह अन्तर्गुफामें बैठकर मृदुगिरासे आश्वासन देता रहता है। 'तू यह नहीं, तू और है, भिन्न है, तेरा उद्देश इतना मात्र नहीं, वह बहुत ऊँचा है, तेरा यह लोक नहीं, तेरा लोक दूर है, परे है।'

इस अन्तःप्रतीतिसे प्रेरित हुआ जीव बार बार प्राणोंकी आहूति देता है, बार २ मरता और जीता है, बार बार पुतलेको घड़ता है, बार बार इसे रक्तकान्ति वाले मादकरससे भरता है, बार बार इसके द्वारोंसे बाहिर लखाता है। परन्तु बार २ इसी नाम रूप कर्मा-त्मक जगतको अपने सामने पाता है, जिससे यह चिर-परिचित है। बार२ यह देखकर इसे विश्वास हो जाता है—निश्चय हो जाता है—कि यही तो है जिसकी हमें चाह है, यही है जो इसका उद्देश है; इसके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं, और कोई उद्देश नहीं, और कोई लोक नहीं। परन्तु ज्यों ही यह धारणा धारकर यह नाम-रूप कर्मात्मक जीवनमें प्रवेश करता है फिर वही विफलता, वही निराशा, वही अपूर्णता आ उपस्थित होती है। फिर वही भय फिर वही शंका, फिर वही मरन,

उठने शुरू होते हैं। क्या दुःखी जीवन ही जीवन है? क्या मरणशील जीवन जीवन है? यदि यह नहीं तो जीवन क्या है? उद्देश क्या है? फिर वही तर्क वितर्क, फिर वही मीमाँसा दुहरानी शुरू होती हैं।

प्रश्न हल करनेका विफल साधनः—

जीवने इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये बुद्धि-ज्ञान से बहुत काम लिया, उसके पर्याप्त साधनों पर—इन्द्रिय और मन पर बहुत विश्वास किया, इन्हें अनेक प्रकार उपयोगमें लाकर जीवन तथ्य जाननेकी कोशिश की; परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया कि 'लौकिक जीवन ही जीवन है; शरीर ही आत्मा है, भोग रस ही सुख है, धन धान्य ही सम्पदा है, नाम ही वैभव है, रूप ही सुन्दरता है; भौतिक बल ही बल है, सन्तति ही अमरता है। इन्हें ही बनाये रखने, इन्हें ही सुदृढ़ बलवती करने, इन्हें ही सौम्यसुन्दर बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। जीवनका मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है; प्रकृतिके नियमानुसार कर्म करते हुये, भोगरस लेते हुये विचरना ही जीवन-पथ है। और सुखदुःख? सुखदुःख स्वयं कोई चीज़ नहीं हैं, यह सब वाह्य जगतके आधीन हैं। इसीकी कल्पनामें रहते हैं, इसे दुःखदायी कल्पित करनेसे दुःख और सुखदायी कल्पित करनेसे सुख पैदा होता है। अतः दुःखदायी पहलूको भुलाने और सुखदायी पहलूमें मग्न रहने का अभ्यास करना चाहिये।'

इस बुद्धि अनुसार दुःखको भुलाने और सुखको अनुभव करनेके लिये जीवने क्या कुछ नहीं किया। अनेक पहलू बदले, अनेक मार्ग ग्रहण किये; परन्तु कुछ भी न हुआ, प्रश्न ज्योंके त्यों खड़े रहे!

जीवनके विफल मार्गः—

जीवने अज्ञान मार्गका आश्रय लिया। निद्रा, तन्द्रा और मूर्च्छाको अपनाया, मांस-मैथुन-मदिराको ग्रहण किया। अनेक आमोद-प्रमोद, हँसी-मज़ाकके उपाय निकाले। अनेक खेल कूद और व्यसन ईजाद किये, परन्तु दुःखने साथ न छोड़ा।

यह देख उद्योग मार्ग पर अधिक जोर दिया। अनेक उद्योग धन्धे, अनेक काम काज अनेक व्यवसाय बनाये। इनमें उपयुक्त रहना ज़रूरी माना गया, बेकार रहनेसे बेगारमें लगे रहना भला समझा गया; परन्तु दुःखका अन्त न हुआ।

इसपर मनुष्यने विचारा कि सुख दुःख काल्पनिक नहीं हैं। दुःख भुलाने से नहीं भुलाया जा सकता और सुख कल्पना करने से सिद्ध नहीं हो सकता। यह वास्तविक है, परन्तु यह अपने आधीन नहीं, बाह्य लोक के आधीन है, जगतकी प्राकृतिक शक्तियोंके आधीन है, शक्तियोंके अधिष्ठाता देवी-देवताओंके आधीन है। देवी देवता महा बलवान हैं, अजयी हैं, अपनी मर्जीके मालिक हैं। इनका अनुग्रह हासिल करनेके लिये इन्हें पूजा-प्रार्थना, स्तुति-वंदना, यज्ञ-होम से सन्तुष्ट करना चाहिये। यह सोच मनुष्यने याज्ञिक मार्गको ग्रहण किया, परन्तु इष्ट फलकी सिद्धि न हुई। जगत ज्योंका त्यों अन्ध, स्वच्छन्द, विवेक हीन बना रहा। वह उपासक और निन्दकमें, अच्छे और बुरेमें कोई भेद न कर सका, उसका उपकार है तो सबके लिये, उसका अपकार है तो सबके लिये।

तब मनुष्य ने इन मार्गोंको निरर्थक मान स्वावलम्बनका आश्रय लिया। पूजा-प्रार्थनाको छोड़ जगत-शक्तियोंको बलपूर्वक अपने वश करनेका इरादा किया। शुरू शुरूमें तान्त्रिक मार्गको आजमाया। देवी देवताओंको विजय करनेके लिये अनेक मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र ईजाद किये। शरीरको दृढ़ बलिष्ठ करनेके लिये,

ऋद्धि सिद्धि प्राप्त करनेके लिये अनेक यौगिक कर्म मालूम किये। परन्तु मूल प्रश्नका हल न हुआ।

इन्हें विफल जान विज्ञान मार्गको अपनाया, अनेक विद्याओं और आविष्कारोंको उत्थान मिला। प्रकृतिकी शक्तियोंको निर्घातक बनाने और काममें लानेके लिये अनेक ढंग मालूम किये। नगर और ग्राम बसाये, दुर्ग और प्रासाद खड़े किये, खाई और परकोट रचे, अनेक औषधि, रसायन और उपचार प्रयोगमें लाये; परन्तु रोग-शोक, जन्म-मरणका बहिष्कार न हुआ, आनन्दका लाभ न हुआ, सुन्दरताका आलोक न हुआ।

इस कमीको पूरा करनेके लिये शिल्पकलाकी ओर ध्यान दिया, बस्तियोंको उद्यान-वाटिका, ताल-बावड़ी चौक-राजपथसे सजाया, भवनोंको खम्भ, तोरण, शिखर, उत्तालिकाओंसे ऊँचा किया। इन्हें फूल फुलवाड़ी, मूर्ति-चित्रकारीसे सुशोभित किया। शरीरको वस्त्राभूषण, तेल फुलेल, रूपशृंगारसे अलंकृत किया। इस मार मार, घसाघसीमें नृत्य संगीत, नाटक-वादित्र भरकर जीवनको सरस बनाया, परन्तु जीवनकी कुरूपता, भयानकता, जड़ताका अन्त न हुआ।

तब मनुष्यने व्यक्तिगत परिश्रमको निर्बल जान, पुरुषार्थको संगठित करनेका विचार किया, अनेक संस्थायें व्यवस्थायें स्थापित हुईं, अनेक संघ और समाज बने, अनेक सभ्यता और साम्राज्य उदयमें आये। कभी जाति को, कभी संस्कृतिको, कभी देशको इनका आधार बनाया। परन्तु यह संगठित शक्ति भी प्रकृतिके अनिवार्य उत्पातोंका, शरीरके स्वाभाविक रोगोंका, मनकी व्यथा व्याधियोंका जन्म-मरण रूप संसारका अन्त न कर सकी।

आखिर मनुष्यकी दृष्टि नीति मार्गकी ओर गई। सहयोग सहमन्त्रणाको धर्म बनाया। संयम-सहिष्णुता, दान-सेवा, प्रेम-वात्सल्यका पाठ पढ़ा, परन्तु सुख शांति का राज्य स्थापित न हुआ, पाप अत्याचारका अन्त न हुआ, मारपीट, लूट खसोट, दलन मलनका अभाव न हुआ। दीन-हीन, दुःखी-दरिद्री, दलित-पतित बने ही रहे। ऊँच नीच, छोटे-बड़ेके भाव जमे ही रहे।

तब विचार उत्पन्न हुआ कि यह नीतिका मार्ग नहीं, यह नीतिका अभाव है। इसमें सत्याग्रह, साम्यता और अहिंसाका अभाव है। इसका उद्देश परमार्थ-सिद्धि नहीं, स्वार्थ सिद्धि है। इसका रचयिता सद्ज्ञान नहीं, बुद्धि चातुर्य है। इसका आधार अन्तः उद्धार नहीं, बाह्य उपयोगिता है (Utalitarianism)। इस की उत्पत्ति पूर्णतामें से नहीं हुई, यह वांछाकी सृष्टि है। इसलिये यह अपने ही संघ, जाति, सम्प्रदाय और देश में सीमित होकर रह जाती है। इससे बाहिर समस्त लोक अनीतिका क्षेत्र है। यह नीति मानव-गौरवकी वस्तु नहीं, यह तो चोर डाकुओंके संघमें भी मौजूद है, क्रूर पशु पक्षियोंके समूहमें भी मिलती है।

इस प्रकार जीवने बुद्धि-द्वारा जीवन-तथ्यको समझनेकी अनेक विध कोशिश की; इसके साधनोंको अनेक विध प्रयोगमें लाया, इसके बतलाये हुये तथ्योंको अनेक विध स्वीकार किया, इसके बताये हुये जगको अनेक विध टटोला, इसके सुझाये हुये मार्गोंको अनेक विध ग्रहण किया; परन्तु वाँछाकी तृप्ति न हुई। वेदना बनी ही रही, पुकारती ही रही।

तब कहीं निश्चित हुआ कि बुद्धि निरर्थक है। इसकी धारणा मिथ्या है। इसका मार्ग निष्फल है; इसका जग वांच्छित जग नहीं। यह और है और वह कोई और है। इसजगकी सिद्धिमें सुख नहीं, इसकी असिद्धिमें दुःख नहीं, सुख और दुःख इस जगसे निर्पेक्ष

हैं। वे इसकी कल्पना पर निर्भर नहीं, इसके विधाता के आधीन नहीं। वे जगको, जगकी शक्तियोंको, शक्तियों के अधिष्ठातृ देवी देवताओंको विजय करके, व्यवस्थित करके, खुश करके वश नहीं किये जा सकते। सुख-दुःख किसी और ही सिद्धि असिद्धिमें बसे हैं।

जीवनके प्रश्न हल करनेका वास्तविक साधनः—

फिर वह कौनसी चीज़ है जिसकी असिद्धिमें जीवन दुःखी है और जिसकी सिद्धिसे यह सुखी हो सकता है।

इसके लिये वाञ्छाको ही पूछना होगा, कि आखिर वह क्या चाहती है। उसीके लोकको टटोलना होगा, जहाँ वह रहती है। उसीकी वेदनामयी अनक्षरी भाषाको सुनना होगा, जिसमें वह पुकारती है। उसीके भावनामयी अर्थको समझना होगा जिसमें वह अपनी रूप रेखा प्रगट करती है। इसके लिये बुद्धि ज्ञान सर्वथा अपर्याप्त है। असमर्थ है। यह काम उस प्रकाश द्वारा हो सकता है जो अन्तः लोकका द्योतक है, अन्तर्गुफा में बैठी हुई सत्ताको देखने वाला है, उस ज्ञान द्वारा जो सहज सिद्ध है, स्वाश्रित है, प्रत्यक्ष है, उस ज्ञान द्वारा जिसे अन्तर्ज्ञान होनेके कारण मनोवैज्ञानिक Intuition कहते हैं। जिसे अन्तः पुकार सुननेके कारण अध्यात्मवादी श्रुतज्ञान कहते हैं, जिसकी अनुभूति 'श्रुति' नामसे प्रसिद्ध है।

इस ज्ञानको उपयोगमें लगानेके लिये साधकको शान्त चित्त होना होगा। समस्त विकल्पों और द्विधाओं से अपनेको पृथक करना होगा, निष्पक्ष एक रस हो पूछना होगा— "जीवन क्या होना चाहता है और क्या होने से डरता है ?" इस प्रश्नके उत्तरमें उठी हुई अन्तर्ध्वनिको सुनना होगा।

इष्ट जीवनका स्वरूपः—

जीव जीवन चाहता है, ऐसा जीवन—जो निरा अमृतमय है, जिसमें जन्म-मरणका नाम नहीं, जो सर्वथा स्वाधीन है, जिसे अन्य अवलम्बकी ज़रूरत नहीं जो अत्यन्त घनिष्ठ है, ओत प्रोत और एक है, जो तनिक भी जुदा नहीं, जो अत्यन्त निकट है, लय रूप और समाया हुआ है, जिसे ढूंढनेकी ज़रूरत नहीं जो अत्यन्त साक्षात, ज्योतिमान जाज्वल्यमान है, जिसे देखने जाननेकी ज़रा भी वेदना नहीं, जो अत्यन्त ऊंचा और महान है जिससे परे और कुछ भी नहीं, जो अत्यन्त तैजस् और स्फूर्तिमान है; जिसकी उड़ानमें काल क्षेत्र दिशा कोई भी बाधक नहीं, जो अत्यन्त सुन्दर और मधुर है, ललाम और अभिराम है, जो खुद अपनी लीलामें लय है, मस्तीमें चूर है, शोभामें निमग्न है। जो सब तरह सम्पूर्ण-परिपूर्ण है जिसमें किसी चीज़ की वाञ्छा नहीं, रंकता और रिक्तताका भाव नहीं; जो सर्वभू है, सर्वव्यापक है, अनन्त है, सबमें है, सब उसमें हैं, पर जिसमें अपने सिवा कुछ भी नहीं। जो निर्मल, निर्दोष, परिशुद्ध है, परके मेलसे सर्वथा दूर है; जो केवल वह ही वह है।

यह है जीवका इष्ट जीवन, यह है जीवका वास्तविक उद्देश। इसके प्रति कभी भय पैदा नहीं होता, कभी शंका पैदा नहीं होती, कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रश्न उसी भावके प्रति होता है जो अनिष्ट है, जैसे पाप, दुःख और मृत्यु। इसीलिये ये सदा प्रश्नके विषय बने रहे हैं। परन्तु इष्टके प्रति कभी आशंका नहीं उठती कि "जीवन सुखी क्यों है ? जीवन अमर क्यों है ?" क्योंकि इष्ट जीवन आत्माका निज धर्म है, निज स्वभाव है। आत्मा इसे निज स्वरूप मानकर

स्वीकार करता है, उसकी प्राप्तिकी सदा भावना रखता है। इसलिसे यह विवादका विषय नहीं, समस्याका विषय नहीं। यह आसक्ति का विषय है, भक्तिका विषय है, सिद्धि का विषय है।

यह इसीका आलोक है जिसे देखनेको जीवन तरस रहा है, जिसे पानेको वाञ्छाओं से घिरा है, जिसे सिद्ध करनेको उद्यम और पुरुषार्थ से भरा है। यह इसीका आलोक है जो जीवनको दुःखदर्द सहनेको दृढ बनाता है, आपद-विपदाओं में से गुज़रनेको साहसी बनाता है, असफलता निराशाओंके लाँघने को बलवान बनाता है, मर मर कर ज़िन्दा रहने को समर्थ बनाता है। यही वास्तव में निर्बलका बल है। निराशामयकी आशा है। निस्सहायका सहारा है। दीन-दलितका दिलासा है, जीवनका जीवन है। इस आलोकके बिना जीवन एक निरी दुःख-दर्द भरी कहानी है। इसका आलोक ही जीवनके लिये हित अहित, सत्य-असत्य, हेय-उपादेयका निश्चय करता रहता है; युक्त अयुक्त, उचित अनुचित, कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करता रहता है; हित-प्राप्ति अहित-परिहारके लिये प्रेरणा करता रहता है। यही जीवनका निश्चयकार है, निर्णयकार है, आज्ञाकार है, स्वामी है, ईश्वर है, विधाता है।

यदि यह जीवन एकबार मिल जाये तो और कुछ पाना बाक़ी नहीं रहता, यह परमार्थ पद है, परमेष्टि पद है। इसे सिद्ध कर और कुछ सिद्ध करना शेष नहीं रहता, यह सिद्ध पद है, कृतकृत्य पद है। इससे परे इससे ऊपर और कुछ नहीं रहता। यह परमपद है, परमात्म-पद है। इसे पा समस्त विकल्प, द्विधा, वाञ्छा, तृष्णाका अन्त होजाता है यह कैवल्य पद है! इसकी प्राप्ति में समस्त वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, और रूपका अभाव होजाता है, यह शून्य पद है, युक्तिपद है, निर्वाण पद है, इसे पा फिर छोड़ना नहीं होता, यह अच्युत पद है।

यद्यपि यह जीवन सर्वथा अलौकिक है, अद्भुत और अनुपम है। यह शरीर, इन्द्रिय और मन से दूर है। इस लोककी वस्तु नहीं। परन्तु भूल, अज्ञान, मोहके कारण कस्तूरी-मृगके समान, यह जीव इसकी धारणा जगत में करता है, इसे व्यर्थ ही वहाँ ढूँढता है, वहाँ न पाकर व्यर्थ ही खेद खिन्न होता है।

इष्ट जीवन साध्य जीवन है :-

इस भोले जीव को पता नहीं कि, वह चीज़ जिस का आलोक इसे उद्विग्न बना रहा है, बाहिर नहीं अन्दर है। दूर नहीं, निकट है। दोरंगी नहीं, एक रस है। यह जीवन स्वयं आत्मलोक में बसा है। आत्माकी अपनी अन्तर्वस्तु है यह इसमें ऐसी ही छिपी है जैसे अनगढ पाषाणमें मूर्ति, बिखरी रेखाओंमें चित्र, वीणाके चुपचाप तारों में राग, अचेत भावना में काव्य ये भाव जब तक इन पदार्थों में अभिव्यक्त नहीं होते, दिखाई नहीं देते, ये वहाँ सोये पड़े रहते हैं। बाहिरसे देखनेवालों को ऐसा मालूम होता है कि यह भाव भिन्न हैं, और यह पदार्थ भिन्न है, यह भाव और हैं, वह पदार्थ और है। ये भाव महान हैं, विलक्षण हैं, दूर हैं, और वह पदार्थ तुच्छ है, हीन है साधारण है। भला इनका उनसे क्या सम्बन्ध, क्या तुलना? ऐसे ऐसे इन पर हज़ार न्योछावर हो सकते हैं। ये भाव दुर्लभ हैं, अमूल्य हैं। असाध्य हैं, अप्राप्य हैं।

परन्तु ये भाव इन पदार्थोंसे ऐसे भिन्न नहीं, ऐसे दूर नहीं कि वह इनमें प्रगट ही न हो सकें। उनकी विभिन्नता ज़रूर है परन्तु वह विभिन्नता वास्तविक विभिन्नता नहीं, वह केवल अवस्थाकी विभिन्नता है।

उनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं वह केवल दुर्व्यवस्थाकी दूरी है। यदि विधिवत् पुरुषार्थ किया जाय तो वे भाव इनमें उदय हो सकते हैं। इनमें सिद्ध हो सकते हैं।

जब पाषाण, उत्कीर्ण होजाता है, वह पाषाण नहीं रहता, वह मूर्ति बन जाती है। वह कितनी माननीय और आदरणीय है? जब रेखायें सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखायें नहीं रहतीं वे चित्र बन जाती हैं। वे कितनी रोचक और मनोरञ्जक हैं। जब मूक्तार झंकार उठता है, वह तार नहीं रहता, वह राग बन जाता है, वह कितना मधुर और सुन्दर है। जब भावना मुखरित हो उठती है, वह भावना नहीं रहती। वह काव्य बन जाता है, साक्षात् भाव बन जाता है। वह कितना महान और स्फुर्तिदायक है।

इस पाषाण और मूर्तिमें, इस रेखा और चित्रमें इस तार और रागमें, इस भावना और भावमें कितना अन्तर है। दोनोंके बीच अलक्ष्यता, मूर्च्छा, अव्यवस्था का अगाध मरुस्थल है। जो धीर अपनी अटल लक्ष्यता ज्ञान और पुरुषार्थसे इस दूरीको लाँघकर, इस सिरेको इस सिरेसे मिला देता है वह कितना कुशल कलाकार है। वह भूरि भूरि प्रशंसा और आदरका पात्र है। चंचल लक्ष्मी उसके चरणोंको चूमती है, और घातक काल उसकी कीर्तिका रक्षक बनता है।

जीवन भी एक कला है। जब तक यह आत्मामें अभिव्यक्त नहीं होती, बाहिरसे देखने वालोंको ऐसा प्रतीत होता है कि वह जीवन और है और यह जीवन और। वह जीवन इस जीवनसे अत्यन्त भिन्न है, अत्यंत दूर है, अत्यन्त परे है। यह जीवन एक दीन-हीन तुच्छ-साधारण सी चीज़ है। वह जीवन अत्यन्त विलक्षण, महान, अचिन्तनीय ईश्वर है। यह जीवन दुःख दर्दसे भरा है, अनेक त्रुटियों और दोषोंसे परिपूर्ण है। वह पूर्ण आनन्दमय है, शुद्ध-बुद्ध निरंजन है। इनके सम्मिलनकी भावना केवल एक सुन्दर स्वप्न है, एक सुविचार है, जो भक्तिका विषय हो सकता है, प्राप्तिका नहीं। इसकी प्राप्ति नितान्त असम्भव है। इसकी वाँछा ऐसी ही मूढ और उपहास-जनक है जैसी कि चन्द्र-प्राप्ति की।

एक ओर अन्तर्वेदना इसके आलिंगनको उत्सुक है, दूसरी ओर बाह्य प्रतीति इसे छुड़ानेको उद्यत है। कैसी उलझन है। न अप्राप्य है न प्राप्य है! क्या किया जाये? कर्तव्य-विमूढ-हृदय इस विस्मयमें डूबकर रह जाता है। शिर भक्तिसे झुककर झूम जाता है और कण्ठ अनायास गुञ्जार उठता है 'तू तू ही है' तू तू ही है।

क्या वास्तवमें इष्ट जीवन इस जीवनसे नितान्त भिन्न है? क्या इस जीवनके लिये परमार्थ जीवन असाध्य है! नहीं। इष्ट जीवन इस जीवनसे भिन्न ज़रूर है, दूर ज़रूर है परन्तु ऐसा भिन्न नहीं, ऐसा दूर नहीं कि इनका सम्मेलन न हो सके। इनका भेद वस्तु-भेद नहीं है, केवल अवस्था भेद है। यह जीवन मूर्छित है-अचेत है, वह जाग्रत है सचेत है, यह असिद्ध है वह सिद्ध है, यह भावनामयी है वह भावमय है। यह वेदना है वह वेदना की शान्ति है, यह वाँछा है वह वाँछाकी वस्तु है, यह उद्यम है वह उद्यमका फल है। इनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं है, केवल दुर्व्यवस्थाकी दूरी है, वरना यह दोनों हर समय साथ हैं। जहाँ भावना रहती है वहीं भाव रहता है, जहाँ दर्द रहता है वहीं राहत रहती है, भाव अभिव्यक्ति है और भावना भावरूप होनेकी शक्ति है। क्या अभिव्यक्ति शक्तिसे पृथक हो सकती है? कदापि नहीं। शक्ति अँकुर है और अभिव्यक्ति उसका प्रफुल्लित फूल है।

जब जीवमें अलौकिक जीवनकी भावना अंकित हो जाती है, चित्रित हो जाती है, साक्षात् भाव बन जाती है तब आत्मा आत्मा नहीं रहता, यह परमात्मा हो जाता है, यह ब्रह्म नहीं रहता, परब्रह्म बन जाता है। यह पुरुष नहीं रहता पुरुषोत्तम हो जाता है।

इस आत्मा और परमात्मामें कितना अन्तर है। दोनोंके बीच भूल-भ्रान्ति, मिथ्यात्व-अविद्या, मोह तृष्णा का अथाह सागर ठाठें मार रहा है। जो धीर वीर अपने ध्रुवलक्ष्य, सद्ज्ञान और पुरुषार्थ बलसे इस दूरीको लाँघकर इस पारको उस पारसे मिला देता है। मर्त्यको अमृतसे मिला देता है वह निस्संदेह सबसे बड़ा कलाकार है। वह साक्षात् संसार-सेतु है, तीर्थंकर है। वह लोकतिलक है, जगतवन्द्य है। काल उसका द्वारपाल है, इंद्र, चंद्र उसके चारण हैं, लक्ष्मी, सरस्वती, शक्ति उसके उपासक हैं।

जीवन अभ्युदयकी रुकावट:—

इस जीवन अभ्युदयमें भूल, अज्ञान, मोह ही सबसे बड़ी रुकावट है, इनके आवेशमें कुछका कुछ सुझाई देता है। कहींका कहीं चला जाना होता है। जो पर है, असत् है, अनात्म है वह स्व, सत् और आत्म बन जाता है। जो सत् और आत्म है वह भ्रम मात्र हेय बन जाता है। कैसी विडम्बना है। यह मिथ्यात्व कितना प्रभावशाली है। जो बाह्य है, जड़ है, सदा बनता और बिगड़ता है, मिलता और बिखरता है वह पुद्गलमयी लोक ब्रह्मलोक बन गया है, वह पुद्गलमयी शरीर ब्रह्म बन गया है। वह पुद्गलमयी धन धान्य सम्पदा बन गया है। मूढ आत्मा इनके नामको वैभव, इनके रूपको सुन्दरता इनके कर्मको बल समझने लग गया है। इनके भोगको सुख, इनकी सन्ततिको अमरता मानने लग गया है। मोही आत्मा इनके लाभसे अपना लाभ, इनकी वृद्धिमें अपनी वृद्धि इनके हाथमें अपना हाथ, इनके नाशमें अपना नाश धारण करने लग गया है।

इस मिथ्या धारणाके कारण जगत जीवन बन जाता है। उसमें तन्मयता पैदा हो जाती है, मोह और ममता जग जाती है। यह ममता जगतकी तरङ्गोंसे तरङ्गित हो अपनी तृष्णामयी तरङ्गोंसे झुला झुलाकर जीव को अधिक अधिक जगत्की ओर उछालती है। इस तरह यह संसार-चक्र आगे ही आगे चलता रहता है। इस तरह यह जीव प्रकृतिसे सर्वथा भिन्न होने पर भी प्रकृति समान देहधारी बना है। तुच्छ और सपरिमाण बना है। नाम-रूप-कर्मवाला बना है। विविध सम्बंध वाला बना है। जन्मने और मरने वाला बना है।

इस तरह ये मिथ्यात्व, अज्ञान और मोह जन्म जरा मृत्युके संसारिक लौकिक दुःखी जीवनके मूल कारण हैं। ये ही जीवनके महान शत्रु हैं। इनका विजय ही विजय है। जिसने इन्हें जीत लिया उसने दुःख शोकको जीत लिया, जन्म मरणको जीत लिया, लोक परलोकको जीत लिया। इनका विजेता ही वास्तवमें विजेता है, जिन है, जिनेन्द्र है अर्हन्त है‡।

जीवन-सिद्धिका मार्ग:—

भूल भुलैय्याका अंत उसके पीछे पीछे चलनेसे नहीं होता, न उसकी असलियतसे मुँह छुपाकर बैठनेसे होता है। न प्रमादमें पड़े रहनेसे होता है, वह मरीचिका है, वह आगे ही आगे भागती रहती है। वह सब ओरसे घेरे हुये है। उससे दौड़कर छुपना नहीं हो सकता! उस-

‡ उत्तराध्ययन ६, ३४–३६, २३, ३८, धम्मपद ८-४ धर्मरसायन ॥१३५॥

का अन्त अपने ही स्थानमें डटकर खड़ा हो जानेसे होता है, उसका सामना करनेसे होता है, उसका तार तार करनेसे होता है, उसका तिरस्कार करनेसे होता है।

अज्ञानका अन्त उसकी सुझाई हुई बातोंको माननेसे नहीं होता, न संशयमें पड़े रहनेसे होता है, न अनिश्चित गति रखनेसे होता है। उसका अन्त उसके मन्तव्योंका साक्षात् करनेसे होता है, उनका अनुसन्धान और परीक्षा करनेसे होता है, उनमें निज-परका, सत्य असत्यका हित-अहितका विवेक करनेसे होता है।

मोहका अन्त मुग्ध भावोंमें तल्लीन रहनेसे नहीं होता, न उन्हें चुपचुपाते हृदयमें छुपाये रहनेसे होता है। उसका अन्त मुग्ध भावोंकी मूढ़ता निरखनेसे होता है, उनकी मूढ़ताकी निन्दा, आलोचना प्रायश्चित करनेसे होता है। ममकार ग्रंथियोंका अन्त उन्हें पुष्ट करनेसे नहीं होता, उन्हें शिथिल करनेसे होता है। वासनाओंका अन्त भोगसे नहीं होता; संयमसे होता है। इच्छाओंका अन्त परिग्रहसे नहीं होता, संयमसे होता है। तृष्णाओंका अन्त तृप्तिसे नहीं होता, त्यागसे होता है†। द्वेषका अन्त वैरशोधनसे नहीं होता, क्षमासे होता है।

भव-भ्रमणका अन्त बाह्यरमणसे नहीं होता, अन्तः रमण से होता है। इस नाम-रूप-कर्मात्मक जगत का अन्त उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे नहीं होता, उन तन्तुओंके विच्छेदसे होता है जिन के द्वारा जीवन जगतके साथ बँधा है। यह विच्छेद-मन वचन-कायके कर्म-धर्म विधान करनेसे नहीं होता, दण्ड दण्ड-विधान करनेसे होता है,‡ इन्हें गुप्त करनेसे होता है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, काय गुप्ति पालनेसे होता है *।

† सूत्रकृताङ्ग १, १२, १५।

‡ मज्झिमनिकाय।

* तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ६. १. २.

इनका निरोध करनेसे होता है—इनका संवर करनेसे होता है। इन्हें बाह्य उद्योगोंसे हटा पारमार्थिक उद्योगोंमें लगानेसे होता है। इस तरह संसारका अन्त प्रवृत्ति मार्गसे नहीं होता निवृत्ति मार्गसे होता है।

परन्तु जीवन-सिद्धिका मार्ग केवल इतना ही नहीं है। यह केवल निषेध, संवर, और सन्यास रूप ही नहीं है। यह विधिमुख्य भी है। निषेध, संवर, सन्यास आत्म-साधनाकी पहली सीढ़ी है। साधककी पाद-पीठिका है। इसमें अभ्यस्त होनेसे आत्मा साक्षात् सिद्ध मार्ग पर आरूढ़ होनेके लिये समर्थ हो जाता है। अबाध और निर्विघ्न हो जाता है। वह स्थिर, उज्वल और शांत हो जाता है। परन्तु इतना मात्र होकर रह जानेसे काम नहीं चलता। इससे मिथ्यात्व, अज्ञान और मोहका समूल नाश नहीं हो जाता। वे अनादि-कालसे अभ्यासमें आते आते संस्कार, संज्ञा, और भाव बन गये हैं। अतः चेतनाकी गहराईमें उतर कर बैठ गये हैं। वे दूसरा जीवन बन गये हैं। वे किसी भी समय फूट निकलते हैं। वे निष्कारण भी आत्मा-को उद्विग्न, भ्रान्त और अशान्त बना देते हैं*। जब तक इनका उच्छेद नहीं होता, संसार चक्रका अन्त नहीं होता।

इन संस्कारोंको निर्मूल करनेके लिये निषेधके साथ विधिको जोड़ना होगा। प्रमाद छोड़ना होगा। सावधान और जागरुक रहना होगा। समस्त परम्परागत भावों, संज्ञाओं और वृत्तियोंसे अपनेको पृथक् करना होगा। इन्द्रिय और मनको बाहिरसे हटा अन्दर लेजाना होगा। अपने ही में आपको लाना होगा। ध्यानस्थ होना होगा।

* समाधिशतक ॥ ४५ ॥

अन्दर बैठ निर्वात हो ज्ञान दीपक जगाना होगा। ज्ञान प्रकाशको उसीके देखनेमें लगाना होगा। जिसके लिये यह सब देखना जानना है—ढूंढना भालना है। उसीकी भावनाओंको सुनना और समझना होगा। जिसके लिये यह सब उद्यम हैं—पुरुषार्थ हैं। जो निरन्तर पुकारता रहता है "मैं अजर हूँ-अमर हूँ, तैजस-ज्योतिमान् हूँ, सुन्दर-मधुर हूँ, महान् और सम्पूर्ण हूँ।"

समस्त लक्ष्योंको त्याग इसी भावनामयी जीवनको अपना लक्ष्य बनाना होगा। इसे ध्रुव-समान दृष्टिमें समाना होगा। अपनेको निश्चय-पूर्वक विश्वास कराना होगा। "सोऽहं, सोऽहं", मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।

समस्त विद्वानोंको छोड़ ज्ञानको इसी अमृतमयी जीवनकी ओर ध्यान देना होगा। इसे स्पष्ट और पुष्ट करना होगा। अन्दर ही अन्दर देखना और जानना होगा। 'सोऽहं सोऽहं।'

समस्त रूढ़ीक भावों और बंधनोंसे हटा ममत्वको इसी लक्ष्यमें आसक्त करना होगा। इसीके पीछे २ चलना होगा, इसीके समरसमें डूबना होगा। हर समय अनुभव करना होगा। 'सोऽहं सोऽहं।'

यह मार्ग आत्म-श्रद्धा, आत्म-विद्या, आत्मचर्याका मार्ग है*। यह मार्ग सत्यपारमिता, प्रज्ञापारमिता, शीलपारमिताका मार्ग है†। यह मार्ग आत्म निश्चित, आत्मबोध, आत्मस्थितिका मार्ग है‡। यह मार्ग सम्यक्-दर्शन सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्रका मार्ग है*।

यह है वह विधिनिषेधात्मक सिद्धि मार्ग, जो गहरेसे गहरे बैठे हुये संस्कारोंको निर्जीर्ण कर विध्वंस कर देता है। जो सोई हुई आत्म-शक्तियोंको जगा देता है, उन्हें भावनासे निकाल साक्षात् भाव बना देता है। यह मार्ग बहुत कठिन है। इसके लिये अनेक प्राकृतिक और मानुषिक विपदाओं और क्रूरताओंको सहन करना पड़ता है, अनेक शारीरिक और मानसिक त्रुटियों एवं बाधाओंसे लड़ना पड़ता है। यह मार्ग परिषहोंसे पूर्ण हैं। इसके लिये अदमनीय उत्साह, सत्याग्रह और साहसकी जरूरत है। यह मार्ग कठिन ही नहीं लम्बा भी बहुत है। इसके लिये दीर्घ पुरुषार्थ और श्रेणी बद्ध अभ्यासकी जरूरत है। इसे अभ्यस्त करनेके लिये इस मार्ग पर निरन्तर चलते रहना होगा। सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते, हर समय इस पर चलते रहना होगा। विचार है तो 'सोऽहं', आलाप है तो 'सोऽहं', आचार है तो 'सोऽहं'। इस मार्गको जीवन तन्तुओंमें रमा देना होगा। यहां तक रमाना होगा कि यह मार्ग जीवनमें उतर पाये, जीवनमें समा जाये। साक्षात् जीवन बन जाये। यहां तक कि 'मैं' और 'वह' का भेद भी विलय हो जाये। केवल वह ही वह रह जाता है।

यह मार्ग किसी बाह्य विधि विधान, क्रिया काण्ड, परिग्रह आडम्बरमें नहीं रहता; यह किसी भाषा, आलाप ग्रन्थमें नहीं रहता, यह किसी सामायिक प्रथा, संस्था-व्यवस्थामें नहीं रहता, यह किसी पूजा-प्रार्थना, स्तुति-वन्दनामें नहीं रहता। यह मार्ग साध्यके समान ही अलौकिक और गूढ है, साध्यके साथ ही आत्माकी

---

* प्रश्न उप० १-१०. ५-३, मुण्ड उप० ३-१-५,' १-२-११,' कैवल्य उप० १-१.

† दीघ निकाय—दूसरा सुत्त, छटा सुत्त, १०वाँ सुत्त, १२वाँ सुत्त।

‡ लाठी संहिता—अध्याय ३

* तत्वार्थाधिगमसूत्र १-१, रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३,

अन्तः शक्तियोंमें रहता है; उसके उद्देश्य बल, ज्ञान बल, पुरुषार्थ बलमें रहता है। केवल इनकी गतिको बदलनेकी ज़रूरत है। इनका उपयोग बाहिरसे हटा अन्दरकी ओर लगाना है। इन्हें बजाय अनात्म-उद्देश, अनात्म दान, अनात्म पुरुषार्थके ज्ञान, आत्म पुरुषार्थ में तबदील करना है। फिर ये जीवनके बजाये इस पारके उस पार ले जाने वाले हो जाते हैं। यह बजाय संसारके मोक्षका साधन बन जाते हैं, बजाय मृत्युलोकके अमृतलोकका मार्ग बन जाते हैं।

बाह्यमुखी रूपसे इन तीनोंकी एकता संसारकी रचयिता है। अन्तःमुखी रूपसे इन तीनोंकी एकता मोक्ष की रचयिता है। जैसे संसारमें किसी भी पदार्थकी सिद्धि केवल उसकी कामना करने से, केवल उसे जान लेने से नहीं होती, बल्कि उसकी सिद्धि कामना तथा ज्ञान के साथ पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है ऐसे ही परमात्म स्वरूपकी सिद्धि केवल उसमें श्रद्धा रखनेसे, केवल उसे जान लेनेसे नहीं होती; बल्कि उसकी सिद्धि आत्म-श्रद्धा, आत्म ज्ञानके साथ आत्म-पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है।†

जो केवल परमात्म पदकी श्रद्धा और भक्तिमें अटक कर रह जाता है, वह अग्नि विदग्ध नगरीमें पड़े हुये उस आलसीके समान हैं जो सुखकी कामना करता हुआ भी अपनी सहायता करनेमें असमर्थ है।

जो परमात्म-तत्त्वके रहस्यको जानकर केवल उसके ज्ञानमें मग्न हो अपनेको अहो भाग्य मानता है वह उस सुस्वप्नि कुम्भकारके समान है जो अपने सुविचारसे अपनी दीनताको और अधिक दीन बना लेता है।

जो बिना आत्म श्रद्धा, बिना आत्म-ज्ञानके केवल पुरुषार्थी बना है, वह नाविक-हीन उस स्वच्छंद नावके समान है जो प्रकृतिके सहारे छोड़ दी गई है। जिधर मौज ले चली, चल पड़ी, जहां टकरा दिया टकरा गई, जहां डाल दिया, गिर गई।

यह तीनों ही मृत्युके ग्रास हैं, बार बार काल चक्र से पीसे जाते हैं †। इसलिये जीवनका सिद्धि-मार्ग त्रि-गुणात्मक है, सद्लक्ष्य, सद्ज्ञान और सद्-पुरुषार्थ जो आत्म-लक्ष्यको लक्ष्य बनाकर मिथ्यात्वका अंत करता है, जो अन्य ज्ञानसे उसे देखता जानता हुआ अविद्याका अंत करता है, जो आत्माचार्यासे लक्ष्यको जीवनमें उतारता हुआ मोहका अन्त करता है वह ही निश्चय पूर्वक धर्म है, धर्म-मार्ग है, धर्म-तीर्थ है। वह ही साक्षात् धर्म-मूर्ति है, धर्म-अवतार है ‡।

आत्मा में ही परमात्मा छुपा हुआ है। आत्मामें ही उसे सिद्ध करनेकी वेदना और वांछा बनी है। आत्मामें ही उसे सिद्ध करनेकी शक्तियाँ मौजूद हैं। अतः आत्मा ही साध्य है, साधक है, साधन है। आत्मा ही इष्ट पद है पथिक है, पथ है। आत्मा ही उस पार है, नाविक है और नाव है ❀।

जो आत्मलक्षी है, आत्मज्ञानी है, आत्मनिष्ठ है, निरहंकार-निर्ममत्व है, जिसके समस्त संशय, समस्त भ्रम दूर हो गये हैं, समस्त ग्रन्थियाँ, समस्त सम्बन्ध शिथिल हो गये हैं। समस्त आशायें-तृष्णायें शाँत हो गई हैं, समस्त उद्योग बन्द हो गये हैं, जिसने अपनी आशा अपने ही में लगाली है, अपनी दुनिया अपने ही में

† व्याख्या प्रज्ञप्ति ८-१० बोध प्राभृत २१

† सन्मतितर्क ३, ६८

‡ भाव प्राभृत ८३; योगसार ८३; तत्त्वानुशासन ३२ द्रव्य संग्रह ४०, ४१;

❀ "I am the way, the truth and the life." Bible St. John 14. 6.

बसाली है, वह कृतकृत्य है, अचल है, ईश है, उसके लिये काञ्च और कंचन क्या ! अरि और मित्र क्या ! स्तुति और निन्दा क्या ! योग और वियोग क्या ! जन्म और मरण क्या ! दुख और शोक क्या ! वह सूर्यके समान तेजस्वी है, वायुके समान स्वतंत्र है, आकाशके समान निर्लेप है। मृत्यु उसके लिये मृत्यु नहीं, वह मृत्युकी मृत्यु है, वह मोक्षका द्वार है, वह महोत्सव है** ।

यह सिद्धिमार्ग वेशधारीका मार्ग नहीं, तथागतका मार्ग है। यह मूढ़का मार्ग नहीं। सन्मतिका मार्ग है। यह निर्बलका मार्ग नहीं, वीरका मार्ग है† ।

** सूत्रकृतांग' १-१२,' उत्तराध्ययन ६-१४,
† मुण्डक उप० ३-२-४.

साहित्य परिचय और समालोचन

(१) तत्त्वन्यायविभाकर—लेखक, आचार्य विजयलब्धि सूरि। प्रकाशक, शा० चन्दूलाल जमनादास, छाणी (बडोदा)। पृष्ठ संख्या, १२४। मूल्य, आठ आना।

यह 'लब्धिसूरीश्वर-जैनग्रंथमालाका ४था ग्रंथ है। इसमें १ सम्यक् श्रद्धा, २ सम्यज्ञान और ३ सम्यक् चरण ऐसे तीन विभाग करके, पहलेमें जीवादि नवतत्त्वोंका (जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षके क्रमसे) गुणस्थान मार्गणादि निरुपण-सहित, दूसरेमें मत्यादि पंचज्ञानों-प्रत्यक्षादि-प्रमाणों-आभासों-सप्तभंगों-नयों तथा वादोंका, और तीसरेमें चरण-करणभेदसे यतिधर्मका वर्णन संस्कृत गद्यमें दिया है। वर्णनकी भाषा सरल और शैली सुगम तथा सुबोध है। यतिधर्मका वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है और वह बारह भावनाओं, लोक तथा पुलाकादि निर्ग्रन्थोंके स्वरूप-कथनको भी लिये हुए है। श्रावकाचारका कोई वर्णन साथमें नहीं है, जिसकी सम्यक्चरण विभागमें होनेकी ज़रूरत थी। प्रस्तावना साधारण दो पृष्ठकी है और वह भी संस्कृतमें। अच्छा होता यदि प्रस्तावना हिन्दीमें विस्तारके साथ लिखी जाती और उसमें ग्रंथकी उपयोगिता एवं विशेषताको तुलनादि-द्वारा अच्छी तरहसे व्यक्त किया जाता। पुस्तकके साथमें विषयसूची तकका न होना बहुत ही खटकता है। फिर भी पुस्तक संस्कृत जाननेवालोंके लिये पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है। मूल्य कुछ अधिक है।

(२) चैत्यवन्दन चतुर्विंशतिः—लेखक, श्रीविजयलब्धिसूरि। प्रकाशक, चंदुलाल जमनादास शाह, छाणी (बड़ौदा स्टेट)। पृष्ठ संख्या, ३४। मूल्य दो आना।

यह लब्धिसूरीश्वर-जैनग्रंथमालाका ८ वाँ ग्रन्थ है। इसमें मुख्यतया चौबीस तीर्थंकरोंकी चैत्यवन्दनारूपमें स्तुति भिन्न भिन्न छंदोंमें की गई है—२३ तीर्थंकरोंकी स्तुति तीन तीन पद्योंमें और महावीरकी पाँच पद्योंमें है। तदनन्तर सीमंधर जिन, सिद्धगिरि, सिद्धचक्र, पर्युषणपर्व, ज्ञानपंचमी, मौनैकादशी, ऋषभानन जिन, चन्द्राननजिन, वारिषेणजिन और फिर वर्धमान जिन की भी चैत्यवन्दन रूपमें स्तुतियाँ भिन्न भिन्न छंदों तथा एकसे अधिक पद्योंमें दी हैं। स्तुतियाँ सब संस्कृत में हैं और जिन छंदोंमें है उनके लक्षण भी संस्कृतमें ही फुटनोटोंमें दिये गये हैं। पुस्तक अच्छी है और सुंदर छपी है।

Register No. L 4328.

वीर-सेवामन्दिरको सहायता

गत फरवरी और मार्चके महीनोंमें वीर-सेवामन्दिर सरसावाको निम्न सज्जनोंकी ओरसे २८५) रु० की सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं:—

२००) बाबू नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता ।
५०) बाबू दीनानाथजी सरावगी, कलकत्ता ।
२५) बाबू छोटेलालजी सरावगी, कलकत्ता ।
७) ला० मेहरचन्दजी जैन, अम्बाला छावनी (पुत्र विवाहकी खुशीमें)
२) ला० जम्बूप्रसाद प्रेमचन्द जैन, गढी पुख्ता, जि० मुजफ्फरनगर (पुत्र विवाहकी खुशीमें)
१) श्रीमती मखमलीदेवी धर्मपत्नी बा० जिनेश्वरप्रसाद जैन, देहरादून ।

२८५)

अधिष्ठाता—'वीर सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर ।

सूचना—

जो सज्जन 'अनेकान्त' की पिछली किरण न लेकर नवीन किरणसे ही ग्राहक बनना चाहते हैं, उन्हें सहर्ष सूचित किया जाता है कि वे १॥) रु० मनीआर्डर से भिजवा देने पर ७ वीं किरणसे १२ वीं किरण तकके ग्राहक बनाये जा सकेंगे । उन्हें नवीन प्रकाशित किरणें ही भेजी जाएँगी और जो १॥) रु० के बजाए १॥।) रु० भेज देंगे उन्हें समाधितन्त्र और जैन-समाज दर्पण दोनों उपहारी पुस्तकें भी भिजवाई जा सकेंगी ।

—व्यवस्थापक

वीर प्रेस [illegible] देहली ।